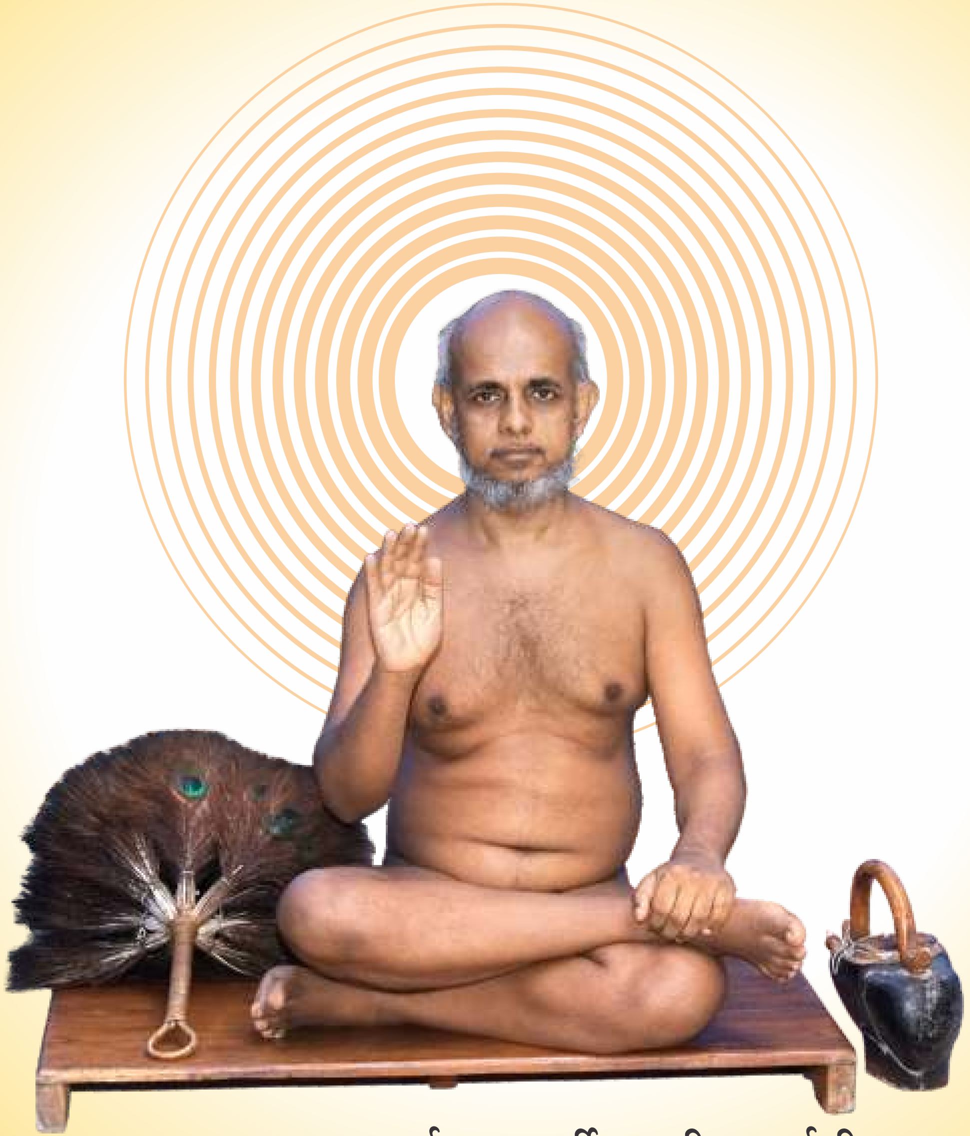

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

सम्यक्त्वसारशतक

ग्रन्थकर्त्ता
भूरामल जी शास्त्री

प्राप्ति स्थान
सोनी मन्दिर ट्रस्ट, अजमेर (राजस्थान)

(परम्परानायक)

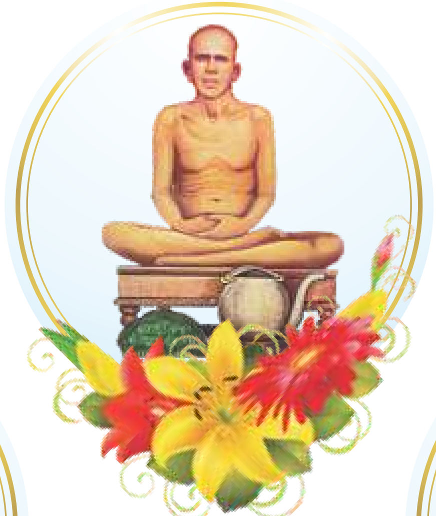

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

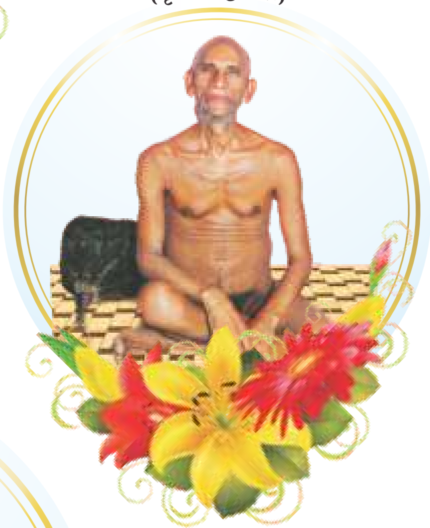

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

सम्यक्त्वसारशतक

6394

—: रचियता :—

श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामलजी शास्त्री
(आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज)

प्रेरक प्रसंग : प. पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परमशिष्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, क्षु. श्री गम्भीर सागरजी, क्षु. श्री धैर्य सागरजी महाराज के ऐतिहासिक १९९४ के श्री सोनी जी की नसियाँ, अजमेर के चातुर्मास के उपलक्ष्य में प्रकाशित।

ट्रस्ट संस्थापक : स्व. पं. जुगल किशोर मुख्तार

ग्रन्थमालासम्पादक एवं नियामक : डॉ. दरबारी लाल कोठिया न्यायाचार्य, बीना (मध्य प्रदेश)

संस्करण : द्वितीय

प्रति : 2000

मूल्य : स्वाध्याय
(नोट :- डाक खर्च भेजकर प्रति निशुल्क प्राप्ति स्थान से मंगा सकते है।

प्राप्ति स्थान :

❋ **सोनी मन्दिर ट्रस्ट**
सोनीजी की नसियाँ,
अजमेर (राज.)

❋ **डा. शीतलचन्द जैन**
मंत्री – श्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
१३१४ अजायब घर का रास्ता,
किशनपोल बाजार, जयपुर

❋ **श्री दिगम्बर जैन मन्दिर अतिशय क्षेत्र**
मन्दिर संघी जी, सांगानेर
जयपुर (राज.)

सम्यक्त्वसारशतक

आशीर्वाद एवं प्रेरणा :

मुनि श्री सुधासागर जी महाराज एवं
क्षु. श्री गंभीरसागर जी, एवं क्षु. श्री धैर्यसागर जी महाराज

सौजन्यता :

श्री माधोलाल गदिया, अजमेर

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन समिति एवं सकल दिगम्बर जैन समाज,
अजमेर (राज.)

प्रकाशन :

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर

मुद्रण एवं लेज़र टाइप सैटिंग :

निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्टस

पुरानी मण्डी, अजमेर फोन 22291

दिगम्बर जैनाचार्य १०८ श्री ज्ञानसागर मुनि महाराज

प्रकाशकीय समर्पण

आ. श्री विद्यासागर जी

卐

मु. श्री सुधासागर जी

पंचाचार युक्त
महाकवि, दार्शनिक विचारक,
धर्मप्रभाकर, आदर्श चारित्रनायक, कुन्द-कुन्द
की परम्परा के उन्नायक, संत शिरोमणि, समाधि सम्राट,
परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों में
एवं
इनके परम सुयोग्य
शिष्य ज्ञान, ध्यान, तप युक्त
जैन संस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,
वात्सल्य मूर्ति, समता स्वाभावी, जिनवाणी के यथार्थ
उद्घोषक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि
श्री सुधासागर जी महाराज के कर कमलों में
सकल दि. जैन समाज एवं दिगम्बर जैन समिति,
अजमेर (राज.) की ओर से
सादर समर्पित ।

आचार्य श्री ज्ञानसागर जी की जीवन यात्रा आँखों देखी

आलेख - निहाल चन्द्र जैन
सेवा निवृत्त प्राचार्य
मिश्रसदन सुन्दर विलास, अजमेर

प्राचीन काल से ही भारत वसुन्धरा ने अनेक महापुरुषों एवं नर-पुंगवों को जन्म दिया है। इन नर-रत्नों ने भारत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं शौर्यता के क्षेत्र में अनेकों कीर्तिमान स्थापित किये हैं। जैन धर्म भी भारत भूमि का एक प्राचीन धर्म हैं, जहाँ तीर्थंकर, श्रुत केवली, केवली भगवान के साथ साथ अनेकों आचार्यों, मुनियों एवं सन्तों ने इस धर्म का अनुसरण कर मानव समाज के लिए मुक्ति एवं आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है।

इस १९-२० शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शांतिसागर जी महाराज थे जिनकी परम्परा में आचार्य श्री वीर सागरजी, आचार्य श्री शिव सागरजी इत्यादि तपस्वी साधुगण हुये। मुनि श्री ज्ञान सागरजी आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से वि. स. २०१६, में खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा लेकर अपने आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ़ हो गये थे। आप शिवसागर आचार्य महाराज के प्रथम शिष्य थे।

मुनि श्री ज्ञान सागर जी का जन्म राणोली ग्राम (सीकर-राजस्थान) में दिगम्बर जैन के छाबड़ा कुल में सेठ सुखदेवजी के पुत्र श्री चतुर्भुज जी की धर्म पत्नि घृतावरी देवी की कोख से हुआ था। आपके बड़े भ्राता श्री छगनलालजी थे तथा दो छोटे भाई और थे तथा एक भाई का जन्म तो पिता श्री के देहान्त के बाद हुआ था। आप स्वयं भूरामल के नाम से विख्यात हुये। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के प्राथमिक विद्यालय में हुई। साधनों के अभाव में आप आगे विद्याध्ययन न कर अपने बड़े भाई जी के साथ नौकरी हेतु गयाजी (बिहार) आगये। वहां १३-१४ वर्ष की आयु में एक जैनी सेठ के दुकान पर आजीविका हेतु कार्य करते रहे। लेकिन आपका मन आगे पढ़ने के लिए छटपटा रहा था। संयोगवश स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के छात्र किसी समारोह में भाग लेने हेतु गयाजी (बिहार) आये। उनके प्रभावपूर्ण कार्यक्रमों को देखकर युवा भूरामल के भाव भी विद्या प्राप्ति हेतु वाराणसी जाने के हुए। विद्या-अध्ययन के प्रति आपकी तीव्र भावना एवं दृढ़ता देखकर आपके बड़े भ्राता ने १५ वर्ष की आयु में आपको वाराणसी जाने की स्वीकृति प्रदान कर दी।

श्री भूरामल जी बचपन से ही कठिन परिश्रमी अध्यवसायी, स्वावलम्बी, एवं निष्ठावान थे। वाराणसी में आपने पूर्ण निष्ठा के साथ विद्याध्ययन किया और संस्कृत एवं जैन सिद्धान्त का गहन अध्ययन कर शास्त्री परीक्षा पास की। जैन धर्म से संस्कारित श्री भूरामल जी न्याय, व्याकरण एवं प्राकृत ग्रन्थों को जैन सिद्धान्तानुसार पढ़ना चाहते थे, जिसकी उस समय वाराणसी में समुचित व्यवस्था नहीं थी। आपका मन क्षुब्ध हो उठा, परिणामतः आपने जैन साहित्य, न्याय और व्याकरण को पुनःजीवित करने का भी दृढ़ संकल्प ही लिया। अडिग विश्वास, निष्ठा एवं संकल्प के धनी श्री भूरामल जी ने कई जैन एवं जैनेत्तर विद्वानों से जैन वाँङ्मय की शिक्षा प्राप्त की। वाराणसी में रहकर ही आपने स्याद्वाद महाविद्यालय से "शास्त्री" की परीक्षा पास कर आप पं. भूरामल जी नाम से विख्यात हुए। वाराणसी में ही आपने जैनाचार्यों द्वारा लिखित न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त एवं अध्यात्म विषयों के अनेक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया।

बनारस से लौट कर आपने अपने ही ग्रामीण विद्यालय में अवैतनिक अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया, लेकिन साथ में, निरन्तर साहित्य साधना एवं साहित्य लेखन के कार्य में भी अग्रसर होते गये। आपकी लेखनी से एक से एक सुन्दर काव्यकृतियाँ जन्म लेती रही। आपकी तरुणाई विद्वता और आजीविकोपार्जन की क्षमता देखकर आपके विवाह के लिए अनेकों प्रस्ताव आये, सगे सम्बन्धियों ने भी आग्रह किया। लेकिन आपने वाराणसी में अध्ययन करते हुए ही संकल्प ले लिया था कि आजीवन ब्रह्मचारी रहकर माँ सरस्वती और जिनवाणी की सेवा में, अध्ययन-अध्यापन तथा साहित्य सृजन में ही अपने आपको समर्पित कर दिया। इस तरह जीवन के ५० वर्ष साहित्य साधना, लेखन, मनन एवं अध्ययन में व्यतीत कर पूर्ण पांडित्य प्राप्त कर लिया। इसी अवधि में आपने दयोदय, भद्रोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय आदि साहित्यिक रचनायें संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में प्रस्तुत की वर्तमान शताब्दी में संस्कृत भाषा के महाकाव्यों की रचना की परम्परा को जीवित रखने वाले मूर्धन्य विद्वानों में आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काशी के दिग्गज विद्वानों की प्रतिक्रिया थी "इसकाल में भी कालीदास और माघकवि की टक्कर लेने वाले विद्वान हैं, यह जानकर प्रसन्नता होती हैं।" इस तरह पूर्ण उदासीनता के साथ, जिनवाणी माँ की अविरत सेवा में आपने गृहस्थाश्रम में ही जीवन के ५० वर्ष पूर्ण किये। जैन सिद्धान्त के हृदय को आत्मसात करने हेतु आपने सिद्धान्त ग्रन्थों श्री धवल, महाधवल जयधवल महाबन्ध आदि ग्रन्थों का विधिवत् स्वाध्याय किया। "ज्ञान भारं क्रिया बिना" क्रिया के बिना ज्ञान भार- स्वरूप है - इस मंत्र को जीवन में उतारने हेतु आप त्याग मार्ग पर प्रवृत्त हुए।

सर्वप्रथम ५२ वर्ष की आयु में सन् १९४७ में आपने अजमेर नगर में ही आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये। ५४ वर्ष की आयु में आपने पूर्णरूपेण गृहत्याग कर आत्मकल्याण हेतु जैन सिद्धान्त के गहन अध्ययन में लग गये। सन् १९५५ में ६० वर्ष की आयु में आपने आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से ही रेनवाल में क्षुल्लक दीक्षा लेकर ज्ञानभूषण के नाम से विख्यात हुए। सन् १९५९ में ६२ वर्ष की आयु में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा अंगीकार कर १०८ मुनि श्री ज्ञानसागरजी के नाम से विभूषित हुए। और आपकों आचार्य श्री का प्रथम शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ। संघ में आपने उपाध्याय पद के कार्य को पूर्ण विद्वत्ता एवं सजगता के साथ सम्पन्न किया। रूढ़िवाद से कोसों दूर मुनि ज्ञानसागर जी ने मुनिपद की सरलता और गंभीरता को धारण कर मन, वचन और कायसे दिगम्बरत्व की साधना में लग गये। दिन रात आपका समय आगमानुकूल मुनिचर्या की साधना, ध्यान अध्ययन-अध्यापन एवं लेखन में व्यतीत होता रहा। फिर राजस्थान प्रान्त में ही विहार करने निकल गये। उस समय आपके साथ मात्र दो-चार त्यागी व्रती थे, विशेष रूप से ऐलक श्री सन्मतिसागर जी, क्षुल्लक श्री संभवसागर जी व सुख सागरजी तथा एक-दो ब्रह्मचारी थे। मुनि श्री उच्च कोटि के शास्त्र-ज्ञाता, विद्वान एवं तात्विक वक्ता थे। पंथ वाद से दूर रहते हुए आपने सदा जैन सिद्धान्तों को जीवन में उतारने की प्रेरणा दी और एक सद्गृहस्थ का जीवन जीने का आह्वान किया।

विहार करते हुए आप मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर तथा ब्यावर भी गये। ब्यावर में पंडित हीरा लालजी शास्त्री ने मुनि श्री को उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों एवं पुस्तकों को प्रकाशित कराने की बात कही, तब आपने कहा "जैन वाँगमय की रचना करने का काम मेरा है, प्रकाशन आदि का कार्य आप लोगों का है"।

जब सन् १९६७ में आपका चातुर्मास मदनगंज किशनगढ़ में हो रहा था, तब जयपुर नगर के चूलगिरि क्षेत्र पर आचार्य देश भूषण जी महाराज का वर्षा योग चल रहा था। चूलगिरी का निर्माण कार्य भी आपकी देखरेख एवं संरक्षण में चल रहा था। उसी समय सदलगा ग्रामनिवासी, एक कन्नड़-भाषी नवयुवक आपके पास ज्ञानार्जन हेतु आया। आचार्य देशभूषण जी की आँखों ने शायद उस नवयुवक की भावना को पढ़ लिया था, सो उन्होंने उस नवयुवक विद्याधर को आशीर्वाद प्रदान कर ज्ञानार्जन हेतु मुनिवर ज्ञानसागर जी के पास भेज दिया। जब मुनि श्री ने नौजवान विद्याधर में ज्ञानार्जन की एक तीव्र कसक एवं ललक देखी तो मुनि श्री ने पूछ ही लिया कि अगर विद्यार्जन के पश्चात छोडकर चले

जावोगे तो मुनि तो का परिश्रम व्यर्थ जायेगा । नौजवान विद्याधर ने तुरन्त ही दृढ़ता के साथ आजीवन सवारी का त्याग कर दिया । इस त्याग भावना से मुनि ज्ञान सागरजी अत्यधिक प्रभावित हुए और एक टक-टकी लगाकर उस नौजवान की मनोहारी, गौरवर्ण तथा मधुर मुस्कान के पीछे छिपे हुए दृढ़-संकल्प को देखते ही रह गये ।

शिक्षण प्रारम्भ हुआ । योग्य गुरू के योग्य शिष्य विद्याधर ने ज्ञानार्जन में कोई कसर नहीं छोड़ी । इसी बीच उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य्य व्रत को भी धारण कर लिया । ब्रह्मचारी विद्याधर की साधना प्रतिमा, तत्परता तथा ज्ञान के क्षयोपशम को देखकर गुरू ज्ञानसागर जी इतने प्रभावित हुए कि, उनकी कड़ी परीक्षा लेने के बाद, उन्हें मुनिपद ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी । इस कार्य को सम्पन्न करने का सौभाग्य मिला अजमेर नगर को और सम्पूर्ण जैन समाज को । ३० जून १९६८ तदानुसार आषाढ़ शुक्ला पंचमी को ब्रह्मचारी विद्याधर की विशाल जन समुदाय के समक्ष जैनश्वरी दीक्षा प्रदान की गई और विद्याधर, मुनि विद्यासागर के नाम से सुशोभित हुए । उस वर्ष का चातुर्मास अजमेर में ही सम्पन्न हुआ ।

तत्पश्चात मुनि श्री ज्ञानसागर जी का संघ विहार करता हुआ नसीराबाद पहुँचा। यहाँ आपने ७ फरवरी १९६९ तदानुसार मगसरबदी दूज को श्री लक्ष्मी नारायण जी को मुनि दीक्षा प्रदान कर मुनि १०८ श्री विवेकसागर नाम दिया । इसी पुनीत अवसर पर समस्त उपस्थित जैन समाज द्वारा आपको आचार्य पद से सुशोभित किया गया ।

आचार्य ज्ञानसागर जी की हार्दिक अभिलाषा थी कि उनके शिष्य उनके सान्निध्य में अधिक से अधिक ज्ञार्नाजन कर ले । आचार्य श्री अपने ज्ञान के अथाह सागर को समाहित कर देना चाहते थे विद्या के सागर में और दोनों ही गुरू-शिष्य उतावले थे एक दूसरे में समाहित होकर ज्ञानामृत का निरन्तर पान करने और कराने में । आचार्य ज्ञानसागर जी सच्चे अर्थों में एक विद्वान-जौहरी और पारखी थे तथा बहुत दूर दृष्टि वाले थे । उनकी काया निरन्तर क्षीण होती जा रही थी । गुरू और शिष्य की जैन सिद्धान्त एवं वांगमय की आराधना, पठन, पाठन एवं तत्वचर्चा-परिचर्चा निरन्तर अबाधगति से चल रही थी ।

तीन वर्ष पश्चात १९७२ में आपके संघ का चातुर्मास पुन: नसीराबाद में हुआ। अपने आचार्य गुरू की गहन अस्वस्थ्यता में उनके परम सुयोग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी ने पूर्ण निष्ठा और निस्पृह भाव से इतनी सेवा की कि शायद कोई लखपती बाप का बेटा भी इतनी निष्ठा और तत्परता के साथ अपने पिता श्री की सेवा कर पाता । कानों सुनी बात तो एक बार झूंठी हो सकती है लेकिन आँखो देखी बात को तो शत प्रतिशत सत्य मान कर ऐसी उत्कृष्ट गुरू भक्ति के प्रति नतमस्तक होना ही पड़ता है।

चातुर्मास समाप्ति की ओर था । आचार्य श्री ज्ञानसागर जी शारीरिक रुप से काफी अस्वस्थ्य एवं क्षीण हो चुके थे । साइटिका का दर्द कम होने का नाम ही नहीं ले रहा था दर्द की भयंकर पीड़ा के कारण आचार्य श्री चलने फिरने में असमर्थ होते जा रहे थे । १६-१७ मई १९७२ की बात है । आचार्य श्री ने अपने योग्यतम शिष्य मुनि विद्यासागर से कहा "विद्यासागर ! मेरा अन्त समीप है । मेरी समाधि कैसे सधेगी ?

इसी बीच एक महत्वपूर्ण घटना नसीराबाद प्रवास के समय घटित हो चुकी थी । आचार्य श्री के देह-त्याग से करीब एक माह पूर्व ही दक्षिण प्रान्तीय मुनि श्री पार्श्वसागर जी आचार्य श्री की निर्विकल्प समाधि में सहायक होने हेतु नसीराबाद पधार चुके थे । वे कई दिनों से आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की सेवा सुश्रुषा एवं वैय्यावृत्ति कर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते थे। नियति को कुछ और ही मंजूर था। १५ मई १९७२ को पार्श्वसागर महाराज को शारीरिक व्याधि उत्पन्न हुई और १६ मई को प्रात:काल करीब ७ बजकर ४५ मिनिट पर अरहन्त, सिद्ध का स्मरण करते हुए वे इस नश्वर

देह का त्याग कर स्वर्गारोहण हो गये । अतः अब यह प्रश्न आचार्य ज्ञानसागर जी के सामने उपस्थित हुआ कि समाधि हेतु आचार्य पद का परित्याग तथा किसी अन्य आचार्य की सेवा में जाने का आगम में विधान है । आचार्य श्री के लिए इस भंयकर शारीरिक उत्पीडन की स्थिति में किसी अन्य आचार्य के पास जाकर समाधि लेना भी संभव नहीं था। आचार्य श्री ने अन्ततोगत्वा अपने शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी को कहा "मेरा शरीर आयु कर्म के उदय से रत्नत्रय- आराधना में शनैः शनैः कृश हो रहा है। अतः मैं यह उचित समझता हूँ कि शेष जीवन काल में आचार्य पद का परित्याग कर इस पद पर अपने प्रथम एवं योग्यतम शिष्य को पदासीन कर दूं। मेरा विश्वास है कि आप श्री जिनशासन सम्वर्धन एवं श्रमण संस्कृति का संरक्षण करते हुए इस पदकी गरिमा को बनाये रखोगे तथा संघ का कुशलता पूर्वक संचालन करसमस्त समाज को सही दिशा प्रदान करोगे।" जब मुनि श्री विद्यासागरजी ने इस महान भार को उठाने में, ज्ञान, अनुभव और उम्र से अपनी लघुता प्रकट की तो आचार्य ज्ञान सागरजी ने कहा "तुम मेरी समाधि साध दो, आचार्य पद स्वीकार करलो। फिर भी तुम्हें संकोच है तो गुरु दक्षिणा स्वरुप ही मेरे इस गुरुत्तर भार को धारण कर मेरी निर्विकल्प समाधि करादो- अन्य उपाय मेरे सामने नहीं है।"

मुनि श्री विद्यासागर जी काफी विचलित हो गये, काफी मंथन किया, विचार-विमर्श किया और अन्त में निर्णय लिया कि गुरु दक्षिणा तो गुरु को हर हालत में देनी ही होगी । और इस तरह उन्होंने अपनी मौन स्वीकृति गुरु चरणों से समर्पित करदी ।

अपनी विशेष आभा के साथ २२ नवम्बर १९७२ तदानुसार मगसर बदी दूज का सूर्योदय हुआ। आज जिन शासन के अनुयायिओं को साक्षात् एक अनुपम एवं अद्भुत दृश्य देखने को मिला । कल तक जो श्री ज्ञान सागरजी महाराज संघ के गुरु थे, आचार्य थे, सर्वोपरि थे, आज वे ही साधु एवं मानव धर्म की पराकाष्ठा का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करने जा रहे थे. यह एक विस्मयकारी एवं रोमांचक दृश्य था, मुनि की संज्वलन कषाय की मन्दता का सर्वोत्कृष्ठ उदाहरण था । आगमानुसार आचार्य श्री ज्ञानसागरजी ने आचार्य पदत्याग की घोषणा की तथा अपने सर्वोत्तम योग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागरजी को समाज के समक्ष अपना गुरुत्तर भार एवं आचार्य पद देने की स्वीकृति मांगकर, उन्हें आचार्य पद से विर्भूषत किया । जिस बड़े पट्टे पर आज तक आचार्य श्री ज्ञानसागर जी आसीन होते थे उससे वे नीचे उतर आये और मुनि श्री विद्यासागरजी को उस आसन पर पदासीन किया। जन-समुदाय की आँखे सुखानन्द के आँसुओं से तरल हो गई । जय घोष से आकाश और मंदिर का प्रांगण गूंज उठा। आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अपने गुरु के आदेश का पालन करते हुये पूज्य गुरुवर की निर्विकल्प समाधि के लिए आगमानुसार व्यवस्था की। गुरु ज्ञानसागरजी महाराज भी परम शान्त भाव से अपने शरीर के प्रति निर्ममत्व होकर रस त्याग की ओर अग्रसर होते गये।

आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपने गुरु की संलेखना पूर्वक समाधि कराने में कोई कसर नहीं छोडी । रात दिन जागकर एवं समयानुकूल सम्बोधन करते हुए आचार्य श्री ने मुनिवर की शांतिपूर्वक समाधि कराई । अन्त में समस्त आहार एवं जल का त्यागोपरान्त मिती जेष्ठ कृष्णा अमावस्या वि. स. २०३० तदनानुसार शुक्रवार दिनांक १ जून १९७३ को दिन में १० बजकर ५० मिनिट पर गुरु ज्ञानसागर जी इस नश्वर शरीर का त्याग कर आत्मलीन हो गये । और दे गये समस्त समाज को एक ऐसा सन्देश कि अगर सुख,शांति और निर्विकल्प समाधि चाहते हो तो कषायों का शमन कर रत्नत्रय मार्ग पर आरुढ़ हो जाओ, तभी कल्याण संभव है ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि आचार्य ज्ञानसागरजी का विशाल कृतित्व और व्यक्तित्व इस भारत भूमि के लिए सरस्वती के वरद पुत्रता की उपलब्धि कराती है। इनके इस महान साहित्य सृजनता से अनेकानेक ज्ञान पिपासुओं ने इनके महाकाव्यों परशोध कर डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर अपने आपको गौरवान्वित किया है। आचार्य श्री के साहित्य की सुरभि वर्तमान में सारे भारत में इस तरह फैल कर विद्वानों को आकर्षित करने लगी है कि समस्त भारतवर्षीय जैन अजैन विद्वानों का ध्यान उनके महाकाव्यों

की ओर गया है। परिणामत: आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की ही संघ परम्परा के प्रथम आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवचन प्रवक्ता, मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज के सान्निध्य में प्रथम बार "आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर ९-१०-११ जून १९९४ को महान अतिशय एवं चमत्कारिक क्षेत्र, सांगानेर (जयपुर) में संगोष्ठी आयोजित करके आचार्य ज्ञानसागरजी के कृत्तित्व को सरस्वती की महानतम साधना के रूप में अंकित किया था, उसे अखिल भारतवर्षीय विद्वत समाज के समक्ष उजागर कर विद्वानों ने भारतवर्ष के सरस्वती पुत्र का अभिनन्दन किया है । इस संगोष्ठी में आचार्य श्री के साहित्य-मंथन से जो नवनीत प्राप्त हुवा, उस नवनीत की स्निग्धता से सम्पूर्ण विद्वत मण्डल इतना आनन्दित हुआ कि पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी के सामने अपनी अतरंग भावना व्यक्त की, कि- पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज के एक एक महाकाव्य पर एक एक संगोष्ठी होना चाहिए, क्योंकि एक एक काव्य में इतने रहस्मय विषय भरे हुए हैं कि उनके समस्त साहित्य पर एक संगोष्ठी करके भी उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता । विद्वानों की यह भावना तथा साथ में पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी महाराज के दिल में पहले से ही गुरु नाम गुरु के प्रति,स्वभावत: कृतित्व और व्यक्तित्व के प्रति प्रभावना बैठी हुई थी, परिणामस्वरुप सहर्ष ही विद्वानों और मुनि श्री के बीच परामर्श एवं विचार विमर्श हुआ और यह निर्णय हुआ कि आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के पृथक पृथक महाकाव्य पर पृथक पृथक रुप से अंखिल भारतवर्षीय संगोष्ठी आयोजित की जावे । उसी समय विद्वानों ने मुनि श्री सुधासागर जी के सान्निध्य मे बैठकर यह भी निर्णय लिया कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का समस्त साहित्य पुन: प्रकाशित कराकर विद्वानों को, पुस्तकालयों और विभिन्न स्थानों के मंदिरों को उपलब्ध कराया जावे।

साथ में यह भी निर्णय लिया गया कि द्वितीय संगोष्ठी में वीरोदय महाकाव्य को विषय बनाया जावे । इस महाकाव्य में से लगभग ५० विषय पृथक पृथक रुप से छाँटे गये, जो पृथक पृथक मूर्धन्य विद्वानों के लिए आलेखित करने हेतु प्रेषित किये गये है। आशा है कि निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मुनि श्री के ही सान्निध्य में द्वितीय अखिल भारतवर्षीय विद्वत संगोष्ठी वीरोदय महाकाव्य पर माह अक्टूबर ९४ मे अजमेर में सम्पन्न होने जा रही है जिसमें पूज्य मुनि श्री का संरक्षण, नेतृत्व एवं मार्गदर्शन सभी विद्वानों को निश्चित रुप से मिलेगा ।

हमारे अजमेर समाज का भी परम सौभाग्य है कि यह नगर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज की साधना स्थली एवं उनके परम सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की दीक्षा स्थली रही है । अजमेर के सातिशय पुण्य के उदय के कारण हमारे आराध्य पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने अपने परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवक्ता, तीर्थोद्धारक, युवा मनिषी, पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री गंभीर सागरजी एवं पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री धैर्य सागर जी महाराज को, हम लोगों की भक्ति भावना एवं उत्साह को देखते हुए इस संघ को अजमेर चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान कर हम सबको उपकृत किया है ।

परम पूज्य मुनिराज श्री सुधासागरजी महाराज का प्रवास अजमेर समाज के लिए एक वरदान सिद्ध हो रहा है । आजतक के पिछले तीस वर्षों के इतिहास में धर्मप्रेमी सज्जनों व महिलाओं का इतना जमघट, इतना समुदाय देखने को नहीं मिला जो एक मुनि श्री के प्रवचनों को सुनने के लिए समय से पूर्व ही आकर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं । सोनी जी की नसियाँ मे प्रवचन सुनने वाले जैन अजैन समुदाय की इतनी भीड़ आती हैं कि तीन-तीन चार-चार स्थानों पर "क्लोज-सर्किट टी.वी." लगाने पड़ रहे हैं। श्रावक संस्कार शिविर जो पर्यूषण पर्व में आयोजित होने जा रहा है। अपने आपकी एक एतिहासिक विशिष्ठता है । अजमेर समाज के लिए यह प्रथम सौभाग्यशाली एवं सुनहरा अवसर होगा जब यहाँ के बाल-आबाल अपने आपको आगमानुसार संस्कारित करेंगे ।

महाराज श्री के व्यक्तित्व का एवं प्रभावपूर्ण उद्‌बोधन का इतना प्रभाव पड़ रहा है कि दान दातार और धर्मप्रेमी निष्ठावान व्यक्ति आगे बढ़कर महाराज श्री के सानिध्य में होने वाले कार्यक्रमों को मूर्त रुप देना चाहते हैं । अक्टूबर माह के मध्य अखिल भारतवर्षीय विद्वत-संगोष्ठी का आयोजन भी

एक विशिष्ठ कार्यक्रम है जिसमें पूज्य आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के द्वारा रचित वीरोदय महाकाव्य के विभिन्न विषयों पर ख्याति प्राप्त विद्वान अपने आलेख का वाचन करेंगे। काश यदि पूज्य मुनिवर सुधासागरजी महाराज का संसघ यहाँ अजमेर में पर्दापण न हुआ होता तो हमारा दुर्भाग्य किस सीमा तक होता, विचारणीय है ।

पूज्य मुनिश्री के प्रवचनों का हमारे दिल और दिमाग पर इतना प्रभाव हुआ कि सम्पूर्ण दिगम्बर समाज अपने वर्ग विशेष के भेदभावों को भुलाकर जैन शासन के एक झंडे के नीचे आ गये । यहीं नहीं हमारी दिगम्बर जैन समिति ने समाज की ओर से पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त साहित्य का पुन: प्रकाशन कराने का संकल्प मुनिश्री के सामने व्यक्त किया । मुनि श्री का आशीर्वाद मिलते ही समाज के दानवीर लोग एक एक पुस्तक को व्यक्तिगत धनराशि से प्रकाशित कराने के लिए आगे आये ताकि वे अपने राजस्थान में ही जन्मे सरस्वती-पुत्र एवं अपने परमेष्ठी के प्रति पूजांजली व्यक्त कर अपने जीवन में सातिशय पुण्य प्राप्त कर तथा देव, शास्त्र, गुरु के प्रति अपनी आस्था को बलवती कर अपना अपना आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सके।

इस प्रकार आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के साहित्य की आपूर्ति की समस्या की पूर्ती इस चातुर्मास में अजमेर समाज ने सम्पन्न की है उसके पीछे एक ही भावना है कि अखिल भारतवर्षीय जन मानस एवं विद्वत जन इस साहित्य का अध्ययन, अध्यापन कर सृष्टी की तात्विक गवेषणा एवं साहित्यक छटा मे अपने जीवन को सुरभित करते हुए कृत कृत्य कर सकेंगे।

इसी चातुर्मास के मध्य अनेकानेक सामाजिक एवं धार्मिक उत्सव भी आयेगें जिस पर समाज को पूज्य मुनि श्री से सारगर्भित प्रवचन सुनने का मौका मिलेगा । आशा है इस वर्ष का भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव एवं पिच्छिका परिवर्तन कार्यक्रम अपने आप में अनूठा होगा । जो शायद पूर्व की कितनी ही परम्पराओं मे हटकर होगा ।

अन्त में श्रमण संस्कृति के महान साधक महान तपस्वी, ज्ञानमूर्ति, चारित्र विभूषण, बाल ब्रह्मचारी परम पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पुनीत चरणों में तथा उनके परम सुयोग्यतम शिष्य चारित्र चक्रवर्ती पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज और इसी कड़ी में पूज्य मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज, क्षुल्लकगण श्री गम्भीर सागर जी एवं श्री धैर्य सागरजी महाराज के पुनीत चरणों में नत मस्तक होता हुआ शत्-शत् वंदन, शत्-शत् अभिनंदन करता हुआ अपनी विनीत विनयांजली समर्पित करता हूँ ।

इन उदात्त भावनाओं के साथ प्राणी मात्र के लिए तत्वगवेषणा हेतु यह ग्रन्थ समाज के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं । यह **सम्यक्त्वसारशतक** श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामलजी शास्त्री ने लिखी थी, यही बाद में आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के नाम से जगत विख्यात हुए।

इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण वीर निर्माण संवत् २४९८ में श्री दिगम्बर जैन समाज मारोठ (राज) से प्रकाशित हुआ था । उसी प्रकाशन को पुन: यथावत प्रकाशित करके इस ग्रन्थ की आपूर्ती की पूर्ती की जा रही है । अत: पूर्व प्रकाशक का दिगम्बर जैन समाज अजमेर आभार व्यक्त करती है । एवं इस द्वितीय संस्करण में दातारों का एवं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष से जिन महानुभोवों ने सहयोग दिया है, उनका भी आभार मानते हैं ।

इस ग्रन्थ की महिमा प्रथम संस्करण मे प्रकाशकीय एवं प्रस्तावना में अतिरिक्त है । जो इस प्रकाशन में भी यथावत संलग्न हैं ।

विनीत

श्री दिगम्बर जैन समिति
एवं सकल दिगम्बर जैन समाज
अजमेर (राज)

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज
सांख्यिकी - परिचय

प्रस्तुति - कमल कुमार जैन

पारिवारिक परिचय :

जन्म स्थान - राणोली ग्राम (जिला सीकर) राजस्थान; **जन्म काल** - सन् १८९१
पिता का नाम - श्री चतुर्भुज जी; **माता का नाम** - श्रीमती घृतवरी देवी
गोत्र - छाबड़ा (खंडेलवाल जैन); **बाल्यकाल का नाम** - भूरामल जी
भ्रात परिचय - पाँच भाई (छगनलाल/भूरामल/गंगाप्रसाद/गौरीलाल/एवं देवीदत्त)
पिता की मृत्यु - सन १९०२ में **शिक्षा** - प्रारम्भिक शिक्षा गांव के विद्यालय में एवं शास्त्रि स्तर की शिक्षा स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस (उ. प्र.) से प्राप्त की ।

साहित्यिक परिचय :

संस्कृत भाषा में

* दयोदय / जयोदय / वीरोदय / (महाकाव्य)
* सुदर्शनयोदय / भद्रोदय / मुनि मनोरंजनाशीति - (चरित्र काव्य)
* सम्यकत्व सार शतक (जैन सिद्धान्त)
* प्रवचन सार प्रतिरुपक (धर्म शास्त्र)

हिन्दी भाषा में

* ऋषभावतार / भाग्योदय / विवेकोदय / गुण सुन्दर वृत्तान्त (चरित्र काव्य)
* कर्तव्य पथ प्रदर्शन / सचित्तविवेचन / तत्वार्थसूत्र टीका / मानव धर्म (धर्मशास्त्र)
* देवागम स्तोत्र / नियमसार / अष्टपाहुड़ (पद्यानुवाद)
* *स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म और जैन विवाह विधि*

चारित्र पथ परिचय :

* सन १९४७ (वि. सं. २००४) में व्रतरुप से ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की ।
* सन १९५५ (वि. सं. २०१२) में क्षुल्लक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५७ (वि. सं. २०१४) में ऐलक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५९ (वि सं. २०१६) में आचार्य १०८ श्री शिवसागर महाराज से उनके प्रथम शिष्य के रुप में मुनि दीक्षा धारण की । स्थान खानिया (जयपुर) राज । आपका नाम मुनि ज्ञानसागर रखा गया ।
* ३० जून सन् १९६८ (आषाढ़ शुक्ला ५ सं. २०२५) को ब्रह्मचारी विद्याधर जी को मुनि पद की दीक्षा दी जो वर्तमान में आचार्य श्रेष्ठ विद्यासागर जी के रुप में विराजित है ।
* ७ फरवरी सन् १९६९ (फागुन वदी ५ सं. २०२५) को नसीराबाद (राजस्थान) में जैन समाज ने आपको आचार्य पद से अलंकृत किया एवं इस तिथि को विवेकसागर जी को मुनिपद की दीक्षा दी ।
* संवत् २०२६ को ब्रह्मचारी जमनालाल जी गंगवाल खाचरियावास (जिला-सीकर) रा. को क्षुल्लक दीक्षा दी और क्षुल्लक विनयसागर नाम रखा । बाद में क्षुल्लक विनयसागर जी ने मुनिश्री विवेकसागर जी से मुनि दीक्षा ली और मुनि विनयसागर कहलाये।

* संवत् २०२६ में ब्रह्म. पन्नालाल जी को केशरगंज अजमेर (राज.) में मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।
* संवत् २०२६ में बनवारी लाल जी को मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद में ब्रह्म. दीपचंदजी को क्षुल्लक दीक्षा दी, और क्षु. स्वरुपानंदजी नाम रखा जो कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के समाधिस्थ पश्चात् सन् १९७६ (कुण्डलपुर) तक आचार्य विद्यासागर महाराज के संघ में रहे ।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद जैन समाज ने आपको चारित्र चक्रवर्ती पद से अलंकृत किया ।
* क्षुल्लक आदिसागर जी, क्षुल्लक शीतल सागर जी (आचार्य महावीर कीर्ति जी के शिष्य भी आपके साथ रहते थे ।
* पांडित्य पूर्ण, जिन आगम के अतिश्रेष्ठ ज्ञाता आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने जीवन काल में अनेकों श्रमण/आर्यिकाएँ/ऐलक/क्षुल्लक/ब्रह्मचारी/श्रावकों को जैन आगम के दर्शन का ज्ञान दिया। आचार्य श्री वीर सागर जी/आचार्य श्री शिवसागर जी/आचार्य श्री धर्मसागर जी/आचार्य श्री अजित सागर जी / एवं वर्तमान श्रेष्ठ आचार्य विद्यासागर जी इसके अनुपम उदाहरण है ।

आचार्य श्री के चातुर्मास परिचय

* संवत् २०१६ - अजमेर सं. २०१७ - लाडनू; सं. २०१८ - सीकर (तीनों चातुर्मास आचार्य शिवसागर जी के साथ किये)
* संवत २०१९ - सीकर; २०२० - हिंगोनिया (फुलेरा); सं. २०२१ - मदनगंज - किशनगढ़ सं. २०२२ - अजमेर; सं. २०२३ - अजमेर, सं. २०२४ - मदनगंज-किशनगढ़ सं. २०२५ - अजमेर (सोनी जी की नसियाँ); सं. २०२६ - अजमेर (केसरगंज); सं. २०२७ - किशनगढ़ रैनवाल; सं. २०२८ - मदनगंज-किशनगढ़ सं. २०२९ - नसीराबाद।

विहार स्थल परिचय

* सं. २०१२ से सं. २०१६ तक क्षुल्लक/ ऐलक अवस्था में - रोहतक/हासी/हिसार/गुउगाँवा/रिवाड़ी/ एवं जयपुर ।
* सं. २०१६ से सं. २०२९ तक मुनि/आचार्य अवस्था में - अजमेर/लाडनू/सीकर/हिंगोनिया/फुलेरा/मदनगंज-किशनगढ़/नसीराबाद/बीर/रुपनगढ़/मरवा/छोटा नरेना/साली/साकून/हरसोली/छप्या/दूदू/मोजमाबाद/चोरु/झाग/सांवरदा/खंडेला/हयोढ़ी/कोठी/मंडा-भीमसींह/भौंडा/किशनगढ़-रैनवाल/कांस/श्यामगढ़/मारोठ/सुरेरा/दांता/कुली/खाचरियाबाद एवं नसीराबाद ।

अंतिम परिचय

* आचार्य पद त्याग एवं संल्लेखना व्रत ग्रहण - मंगसर वदी २ सं. २०२९ (२२ नवम्बर सन् १९७२)
* समाधिस्थ - ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या सं. २०३० (शुक्रवार १ जून सन् १९७३)
* समाधिस्थ समय - पूर्वान्ह १० बजकर ५० मिनिट ।
* सल्लेखना अवधि - ६ मास १३ दिन (मिति अनुसार) ६ मास १० दिन (दिनांक अनुसार)

दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिश्रेष्ठ अनुयायी के चरणों में श्रद्धेव नमन् । शत् शत् नमन ।

प्रकाशकीय

जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ एवं अनुसंधाता स्वर्गीय सरस्वतीपुत्र पं. जुगल किशोर जी मुख्तार "युगवीर" ने अपनी साहित्य इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान- प्रवृत्तियों को मूर्त्तरुप देने के हेतु अपने निवास सरवासा (सहारनपुर) में "वीर सेवा मंदिर" नामक एक शोध संस्था की स्थापना की थी और उसके लिए क्रीत विस्तृत भूखण्ड पर एक सुन्दर भवन का निर्माण किया था, जिसका उद्घाटन वैशाख सुदि 3 (अक्षय-तृतीया), विक्रम संवत् 1993, दिनांक 24 अप्रैल 1936 में किया था । सन् 1942 में मुख्तार जी ने अपनी सम्पत्ति का "वसीयतनामा" लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी । "वसीयतनामा" में उक्त "वीर सेवा मन्दिर" के संचालनार्थ इसी नाम से ट्रस्ट की भी योजना की थी, जिसकी रजिस्ट्री 5 मई 1951 को उनके द्वारा करा दी गयी थी । इस प्रकार पं. मुख्तार जी ने वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट की स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहास के अनुसन्धान कार्य को प्रथमत: अग्रसारित किया था ।

स्वर्गीय बा. छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला. राजकृष्ण जी दिल्ली, रायसाहब ला. उल्फतरायजी दिल्ली आदि के प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु. गणेश प्रसाद जी वर्णी (मुनि गणेश कीर्ति महाराज) के आशीर्वाद से सन् 1948 में श्रद्धेय मुख्तार साहब ने उक्त वीर सेवा मन्दिर का एक कार्यालय उसकी शाखा के रुप में दिल्ली में,उसके राजधानी होने के कारण अनुसन्धान कार्य को अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलने के उद्देश्य से, राय साहब ला.उल्फतरयजी के चैत्यालय में खोला था ।पश्चात् बा. छोटे लालजी,साहू शान्तिप्रसादजी और समाज की उदारतापूर्ण आर्थिक सहायता से उसका भवन भी बन गया, जो 21 दरियागंज दिल्ली में स्थित है और जिसमें "अनेकान्त" (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं । इसी भवन में सरसावा से ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैनविद्या के विभिन्न अङ्गो पर अनुसन्धान करने के लिये विशेष उपयोगी और महत्वपूर्ण है ।

वीर-सेवा मन्दिर ट्रस्ट गंथ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धान का कार्य कर रहा है । इस ट्रस्ट के समर्पित वयोवृद्ध पूर्व मानद मंत्री एवं वर्तमान में अध्यक्ष डा. दरबारी लालजी कोठिया बीना के अथक परिश्रम एवं लगन से अभी तक ट्रस्ट से 38 महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है । आदरणीय कोठियाजी के ही मार्गदर्शन में ट्रस्ट का संपूर्ण कार्य चल रहा है । अत: उनके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करते हैं और कामना करते हैं कि वे दीर्घायु होकर अपनी सेवाओं से समाज को चिरकाल तक लाभान्वित करते रहें।

ट्रस्ट के समस्त सदस्य एवं कोषाध्यक्ष माननीय श्री चन्द संगल एटा, तथा संयुक्त मंत्री ला. सुरेशचन्द्र जैन सरसावा का सहयोग उल्लेखनीय है। एतदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं।

संत शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी के परम शिष्य पूज्य मुनि 108 सुधासागर जी महाराज के आर्शीवाद एवं प्रेरणा से दिनांक 9 से 11 जून 1994 तक श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी सागानेर में आचार्य विद्यासागरजी के गुरु आचार्य प्रवर ज्ञानसागरजी महाराज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व परअखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इस संगोष्ठी में निश्चय किया था कि आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन किसी प्रसिद्ध संस्था से किया जाय। तदनुसार समस्त विद्वानों की सम्मति से यह कार्य वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट ने सहर्ष स्वीकार कर सर्वप्रथम वीरोदयकाव्य के प्रकाशन की योजना बनाई और निश्चय किया कि इस काव्य पर आयोजित होने वाली गोष्ठी के पूर्व इसे प्रकाशित कर दिया जाय। परम हर्ष है कि पूज्य मूनि 108 सुधासागर महाराज का संसघ चातुर्मास अजमेर में होना निश्चय हुआ और महाराज जी के प्रवचनों से प्रभावित होकर श्री दिगम्बर जैन समिति एवम् सकल दिगम्बर जैन समाज अजमेर ने पूज्य आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज के वीरोदय काव्य सहित समस्त ग्रन्थों के प्रकाशन एवं संगोष्ठी का दायित्व स्वयं ले लिया और ट्रस्ट को आर्थिक निर्भार कर दिया। एतदर्थ ट्रस्ट अजमेर समाज का इस जिनवाणी के प्रकाशन एवं ज्ञान के प्रचार प्रसार के लिये आभारी है।

प्रस्तुत कृति **सम्यक्त्वसारशतक** के प्रकाशन में जिन महानुभाव ने आर्थिक सहयोग किया तथा मुद्रण में निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स, अजमेर ने उत्साह पूर्वक कार्य किया है। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में उस संस्था के भी आभारी है जिस संस्था ने पूर्व में यह ग्रन्थ प्रकाशित किया था। अब यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। अत: ट्रस्ट इसको प्रकाशित कर गौरवान्वित है। जैन जयतुं शासनम्।

दिनाङ्क : 9-9-1994

(पर्वाधिराज पर्यूषण पर्व)

डॉ. शीतल चन्द जैन

मानद मंत्री

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट

1314 अजायव घर का रास्ता

किशनपोल बाजार, जयपुर

प्रथम संस्करण से

निवेदन

जैनधर्म "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र" परक धर्म है जिसके प्रणेता वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरिहन्त देव होते हैं। उनकी दिव्यध्वनि से प्रवाहित तत्त्व आगम है। इन तत्त्वों के स्वरूप का प्रचार-प्रसार एवं आचरण करने वाले आचार्य, उपाध्याय और परमेष्ठी सच्चे गुरु हैं। वर्तमान में जितना भी आगम उपलब्ध है, वह सब हमारे निर्ग्रन्थ गुरुओं की अनुकम्पा एवं धर्मवात्सल्य का ही सुफल है।

ऐसे ही श्रुतानुरागी, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, दृढ़व्रती, अत्यन्त सरल परिणामी गुरुवर थे **आचार्य १०८ श्री ज्ञानसागर जी महाराज** जिन्होंने अपनी लेखनी से संस्कृत और हिन्दी भाषा में प्रौढ़ रचनाओं का प्रणयन किया। प्रस्तुत **सम्यक्त्वसारशतकम्** आचार्यश्री की संस्कृत भाषा में रचित एक महत्त्वपूर्ण कृति है। लेखक ने यह मूल शतक तब लिख लिया था, जब वे प्रसिद्ध जैनाचार्य वीरसागर जी महाराज के संघ में ब्रह्मचारी भूरामल के रूप में रह कर अध्ययन-अध्यापन करते थे। क्षुल्लक ज्ञानभूषण के रूप में सं. २०१२ के अपने हिसार (हरियाणा) वर्षायोग में उन्होंने इस पर विस्तृत हिन्दी टीका लिखी। वहीं से इसका प्रथम प्रकाशन उसी वर्ष हुआ था। ब्र. भूरामल, अनन्तर क्षुल्लक ज्ञानभूषण, अनन्तर मुनि ज्ञानसागर और फिर आचार्य ज्ञानसागर के रूप में इस आत्मा ने जिनवाणी का हार्द हृदयंगम कर उसे अपनी रचनाओं के माध्यम से सरलभाषा और रोचक शैली में जनसुलभ बनाया है, उन महर्षि का यह उपकार चिर स्मरणीय रहेगा।

प्रस्तुत कृति क्षुल्लक ज्ञानभूषण जी ने इन शब्दों में "गुरु महाराज" को समर्पित की थी "इस दूषित वातावरण वाले घनघोर काल में भी सूर्य के समान यथार्थ मार्ग को प्रदर्शित करने वाले प्रातः स्मरणीय, जगद्वन्द्य, दिगम्बर परमर्षि, गुरुवर्य आचार्य श्री १०८ वीरसागर जी महाराज के कर-कमलों में मैं यह सम्यक्त्वसारशतक सादर समर्पित कर रहा हूँ, जिसे स्वीकार करते हुए आप (गुरु महाराज) मुझ अल्पज्ञ को शुभाशीर्वाद प्रदान करें ताकि मैं आगे भी इसी प्रकार से सरस्वती जिनवाणी की सेवा कर सकूँ।" चरण सेवक : ज्ञानभूषण; कार्तिक शुक्ला १५ वीर. नि संवत् २४८२। निश्चय ही, अपनी इस समर्पण भावना के अनुरूप गुरुकृपा से इस महानात्मा ने जिनवाणी की अपूर्व सेवा की है और लगभग दो दर्जन आध्यात्मिक साहित्यिक रचनाएँ संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में रची हैं।

प्रस्तुत कृति का विषय तो उसके नाम से ही स्पष्ट है। जैन साधना में सम्यक्त्व/

सम्यग्दर्शन का महत्त्व सर्वोपरि है। इसके बिना तो सब निरर्थक ही है। आचार्यश्री ने सम्यक्त्व की निर्मलता को इसके ईर्दगिर्द जमी धूल और धुएं से मुक्त कर बड़े सरल शब्दों में रोचक ढंग से सामान्य जन तक पहुँचाया है। प्रारम्भ में "सम्यक्त्वसूर्योदयभूभृत" को नमस्कार कर ग्रन्थकार ने सम्यक्त्व वर्णन की प्रतिज्ञा की है। अनन्तर सम्यक्त्व शब्द की व्याख्या करते हुए मिथ्यात्व, मुक्तिमार्ग, उपादान-निमित्त, कार्यकारण भाव, षड्द्रव्य, पंचास्तिकाय, बहिरात्मा-अन्तरात्मा-परमात्मा, बंध-प्रक्रिया, त्रिविध चेतना, सम्यक्त्व-लाभ के पूर्व की स्थिति, उसके बाद की स्थिति, प्रशम-संवेग-अनुकम्पा-आस्तिक्य भाव, सम्यग्दर्शन के आठ अंग, द्विविध संयम, भेदविज्ञान, गुणस्थानों के अनुसार स्थिति, तथा स्वरूपाचरण आदि अनेक विषयों को समाहित कर बहुत ही रोचक और सरल व्याख्या प्रस्तुत की है। शंका-समाधान/प्रश्नोत्तर शैली में आगम प्रमाण रख कर एकान्त मान्यताओं का युक्तियुक्त निरसन किया है और अनेकान्त दृष्टि का पोषण किया है। अभिप्राय यह है कि इस लघुकाय रचना-मात्र एक शतक श्लोकों में सभी जटिल, गम्भीर और बहुचर्चित विषयों का सम्यक् समावेश कर "गागर में सागर" उक्ति को कृतिकार ने चरितार्थ किया है। तत्त्वजिज्ञासु अध्यात्मप्रमियों के लिए यह रचना एक आधारभूत पठनीय कृति के रूप में पूर्णतः उपादेय सिद्ध होगी और इसके अध्ययन से अनेक भ्रान्तियों का सहज में ही निराकरण हो सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत "शतकम्" को अन्वयार्थ सहित पुनर्प्रकाशित कर पाठकों के हाथों में सौंपते हुए सम्पादक-द्वय को हार्दिक प्रसन्नता एवं परितोष है। काफी समय तक इसके प्रकाशन का योग नहीं बना सका। सन् १९८५ के लूणवां (राजस्थान) वर्षायोग में जब आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज के संग के दर्शनार्थ एवं "पं. रतनचन्द मुख्तार: व्यक्तित्व और कृतित्व" ग्रन्थ की प्रेसकापी को अन्तिम रूप देने मैं और पं. जवाहरलाल जी सिद्धान्तशास्त्री वहाँ पहुँचे तो लौटते हुए मारोठ भी रुके। वहाँ **पूज्य मुनिश्री विवेकसागरजी महाराज** संघ सहित वर्षायोग में विराजमान थे। उन्होंने मुझे पूज्यपाद **गुणभद्राचार्य कृत आत्मानुशासन** की पं. टोडरमल जी द्वारा लिखित ढूंढारी टीका का खड़ी बोली हिन्दी में रूपान्तरण करने का आदेश दिया मैंने सहर्ष स्वीकार किया। तभी प्रंसगवश मैंने **"सम्यक्त्वसारशतकम्"** के प्रकाशन की चर्चा भी चला दी। पूज्यश्री ने दिगम्बर जैन समाज मारोठ के सुश्रावकों से इसके प्रकाशन की प्रेरणा भी की और तभी यह निर्णय किया गया कि दोनों ग्रन्थ आत्मानुशासन और सम्यक्त्वसारशतकम् संयुक्त रूप से एक ही जिल्द में प्रकाशित किया जाएं। पं. जवाहरलाल जी सिद्धान्तशास्त्री ने "शतकम्" को पढ़ कर कतिपय उपयोगी टिप्पण लिखे जिन्हें। फुटनोट के रूप में प्रस्तुत संस्करण में दिया गया है। फरवरी १९८६ के अंक से साप्ताहिक जैन गजट में भी मैंने इसका क्रमिक प्रकाशन प्रारम्भ किया।

मारोठ की उदार जैन समाज ने पूज्य मुनिश्री के वर्षायोग के उपलक्ष्य में **"मूलाचार प्रदीप"** ग्रन्थ का प्रकाशन भी करवाया। वर्षायोग की समाप्ति पर मारोठ से विहार करने

के बाद कुछ ही समय में सीकर में पूज्य विवेकसागर जी महाराज की समाधि हो गई। सीकर की जैन समाज ने पूज्यश्री की समाधि की स्मृति में **वृहद्द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ** प्रकाशित करने का निर्णय लिया जिसके सम्पादन का भार भी मुझे सौंपा गया। इस ग्रन्थ के सम्पादन के कार्य से "**आत्मानुशासन**" और "**शतकम्**" का काम रुक गया। फिर सभी ग्रन्थ एक ही प्रेस में मुद्रित होने के कारण भी इन दोनों ग्रन्थों के प्रकाशन में विलम्ब होता गया। आज जब ये ग्रन्थ प्राकाशित हो रहे हैं तो मुनिश्री हमारे बीच उपस्थित नहीं है।

पूज्यश्री **मुनिश्री विवेकसागरजी** आचार्य ज्ञानसारजी महाराज के ही द्वितीय दीक्षित शिष्य थे। जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में आपकी विशेष रुचि थी अत: अपने प्रत्येक वर्षायोग में आप एक वृहद्काय ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा तत्रस्थ समाज को दिया करते थे। फलस्वरूप, उनकी प्रेरणा और निमित्त से बीस से भी अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन और नि:शुल्क वितरण हुआ है। में स्वर्गीय पूज्य मुनिश्री का अत्यन्त आभारी हूँ तथा उनके पुनीत चरणों में अपनी सविनय श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

स्व. महाराजश्री की संघस्था **आर्यिका विशालमतीजी, आर्यिका विज्ञानमतीजी** और **आर्यिका विद्युतमतीजी** के चरण-कमलों में सादर वन्दामि निवेदन करता हूँ, जिनका मार्गदर्शन मुझे सदैव सुलभ रहा है। आर्यिकात्रय की ज्ञानाराधना और संयमसाधना निरन्तर पुष्ट हो, यही कामना करता हूं।

मेरे परम सहयोगी आदरणीय पं. **जवाहरलालजी जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर** का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने अस्वस्थ होते हुए भी इस ग्रन्थ के सम्पादन में मुझे प्रचुर सहयोग देकर मेरा काम सरल किया।

श्री दिगम्बर जैन समाज, मारोठ (राज.) ने अपनी गुरुभक्ति के अनुरूप ग्रन्थ प्रकाशन हेतु उदारतापूर्वक वित्तीय सहयोग किया है, अत: वे अतिशय धन्यवाद के पात्र हैं।

ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण के लिये मैं **बाकलीवाल प्रिन्टर्स, मदनगंज-किशनगढ़** को हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

ग्रन्थ में रही भूलों के लिए मैं सुधी पाठकों से क्षमा चाहता हूँ। इति शुभम् -

विनीत :
डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी

जोधपुर
२५-१२-८७

वीर सेवा मंदिर ...

सम्यक्त्वसारशतकम्

श्लोकानुक्रमणिका

अज्ञाननाशं प्रवदन्ति सन्तो	८६	जीवाश्च केचित्त्वणव: स्वतन्त्रा:	११
अत्रोच्यते स्पष्टतया	७१	ज्ञानं भवेदात्मनि चामत्त	८१
अदृश्यभावेन निजस्य जन्तु:	१४	तत्त्वार्थमाश्रद्दधतो	३०
अनेन पुनरेतस्य	९८	तत्त्वार्थमाश्रद्दधतोऽमुकस्य	४९
अपथ्यवद् दु:खविधेरपेतुं	५६	तद्दर्शनज्ञान चरित्र	४
अयं पुनर्लोकपथे स्थितोऽपि	३६	तदुत्तरं तावदलीकबोध:	८७
अशक्तभावोत्थ सधर्मिदोष	५९	तुर्यादिभूमावपि नेदृगिष्टि	७३
अहन्त्वमेतस्य ममत्वमेत	१६	तेनामृतेनेवरुगस्तु पूर्वा	२६
आत्मत्वमंगे दधतो	३१	दुग्धे घृतस्येवतदन्यथात्वं	७
आत्मीयं सुखमन्यजात	१०१	देवायुषो बन्धनमप्रमत्त	७५
आसप्तमान्तं प्रथमन्तु	८२	देहमतीतो भूत्वा चिदयं	९९
आसाम्परायं सुदृशो	७४	दृग्मोहकर्मत्रितयस्य तस्य	३५
इदं करोमि तु जीवनर्म	२०	दृग्मोहनाशान्ननुजायमानं	७८
उदीयमानस्य चिदंशकस्य	७०	धर्मस्य संग्राहक एष यस्माद्	६१
एकोन्यत्र: सम्मिलतीति	१३	धर्मेण वै संध्रियतेऽत्रवस्तु	४४
एतस्य बाह्यात्मवतोऽपि चेत:	३७	धर्मोऽप्यधर्मो नभ एकमेव	१०
एवं तृतीयाख्य कषायहाने	६७	धर्मोऽप्यधर्मोऽपि नभश्चकाल:	१२
एवं सदाचार परोऽप्यपापी	६३	ध्यानादहोधर्ममयोरुधाम्न	५३
कदापि माणिक्यमिवाभिमर्म	१५	न काललब्धिभविनोऽस्ति गम्या	४७
कर्मान्यदन्यत्र न कार्यकारि	७६	न तुङ्मयायं कुविधामनुस्या	४१
कुतोजनिर्मृत्युरयं च कस्मात्	२५	न धर्मिणो देहमिदं विकारि	५७
कुवृत्तभावोऽपसरेद	८८	न मोहमायाति कुयुक्तिभिर्य:	५८
गत्वा गुरोरन्तिकमेतदाज्ञां	२४	नात्माऽस्य दृष्टौ भवतीति	४५
चारित्रमोह: सुतरामनन्ता	७७	नाप्नोति धर्म बहिरात्मता	४२
चेत्पुद्गलार्द्ध: परिवर्तकालो	२८	निर्ग्रन्थ पदवाच्यत्वमपि	९४

निवृत्तिरूपं चरणं मुदे वः	८३	लक्षाधिपस्यास्त्ययुतं शतं वा	६६
पटः प्रशुद्धश्चभिवफेनिलेवा	७१	वन्देऽन्तिमांगायित बोधमूर्ती	३४
परा पुनः पंचविध	९	वर्षायोगे हिसारस्य	१०४
पापं तु देहात्मतया क्रियेत	२१	वस्तुद्वयं मूलतयाऽत्र भाति	८
पुलाकी वकुशः किं वा	९२	विच्छिन्न आत्मभुविरागनगो	९६
पृथक्त्वाय वितर्कस्तु	९७	विदारयेद् बन्धमुपात्तढंग	१८
प्रभावयेदेष सदा स्वधर्मं	६२	विश्वासमासाद्य जिनोक्तवाचि	४६
प्रयत्नवानादशमस्थलन्तु	८१	संज्ञित्वमासाद्य तदुद्गमस्तु	२३
प्रस्तूयते सातिशयाख्यखादः	६१	संचेत्यते यावदसंज्ञिकर्मफलं	२२
प्राप्त्यै तु भोगस्य यतेत	३८	समञ्ज्वतोत्येव हि	३
भवन्निजापत्तिषु वज्रतुल्यः	५१	समाधिनिरतत्त्वेन	९१
भावश्रुतज्ञानमतः परन्तु	८४	सम्यक्त्वमव्यक्तमपीत्युदारैः	५४
भुनक्ति भोगान्स्म स लक्ष्मणश्च	३९	सम्यक्त्वमेतत् प्रथमोपशाम	३२
भूयाज्जिनशासनं प्रभावि	१०२	सम्यक्त्वमेतन्न गुणोऽस्त्य	८०
मतं जिनोक्तं च परोदितं च	५५	सम्यक्त्मेवानुवदामि	२
मिथ्यात्वतश्चेत् पर एव	८५-१२८	सम्यक्त्व सूर्योदय	१
मिथ्यात्वमेतस्य च	५-६	सम्यक्त्वस्य पृथुप्रतिमानं	१००
मिथ्यादशातः समुपैति	३३-५६	सहस्राद्वितयात् सूर्य	१०३
मूलं सुधीन्द्राश्चिद	१९-२९	सुसमाधिकुबरेण	९०
यतः सदास्तिक्यमुदेति	५२-७५	सूर्योदयात् पूर्वमिवप्रभातः	२९
यतोऽन्तरा संज्वलतीह रागः	६८-१०१	स्त्रियं श्रितस्यापि	६५
यत्स्यान्निमित्तं विकरोति	६-६	स्थित्यानुभागेन पुनः	१७
यथाबलं बुद्धिरुदेति	४८-७१	स्वयं सुखायैव पतिं	४०
यदा द्वितीयख्यकषायहानिः	६४-९५	स्वरूपाचरण भेद	९५
यदृच्छायान्तः करणं हि जुष्टं	४३-६८	शखिनि प्रवहन्नन्ते	९३
युद्धादिकार्ये व्रजतो	५०-७३	श्रद्धानतश्चाचरणाच्च्यवन्तः	६०
रागित्वमुज्झित्य तदुत्तरत्र	७२-१०५	हीनोऽनुभागोऽपि भवेत्तदेति	२७

ॐ

॥ श्री वीतरागाय नमः॥

शास्त्र स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमो नमः ॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालित सकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितं ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

॥श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः।सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं ''श्रीसम्यक्त्वसारशतकम्'' नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थ कर्त्तारः श्री सर्वज्ञदेवाः, तदुत्तरग्रन्थकर्त्तारः श्री गणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारतामासाद्य ''आचार्य श्रीज्ञानसागरेण'' विरचितं, श्रोतारः सावधानतया श्रृण्वन्तु ।

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी ।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥
सर्वमंगलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम् ॥

सम्यक्त्वसारशतकम्

सम्यक्त्वसूर्योदयभूभृतेऽहमधिश्रितोऽस्मि प्रणतिं सदैव।
यत:प्रलीयेत तमोविधात्री,भयंकरा सा जगतोऽथ रात्रि॥१॥

अन्वयार्थ:- अहं मैं सदैव सदा (सम्यक्त्वसूर्योदयभूभृते) सम्यक्त्वरुपी सूर्य के उदयस्थान पर्वत के लिए प्रणातिं प्रणाम करने हेतु अधिश्रित: अस्मि तत्पर हूं यत: जिससे सा वह तमोविधात्री मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को फैलाने वाली (भयङ्करा रात्रि:) भयङ्कर रात्रि जगत: प्रलीयेत संसार से विलीन हो जाती है॥१॥

अर्थ:- सम्यक्त्वरुप सूर्य का जहां पर उदय होता है उस उदयाचल पर्वत के लिए मैं (पं० भूरामल, अनन्तर आचार्य ज्ञानसागर महाराज) सदैव प्रणाम करने को तत्पर हूं। उस सम्यक्त्व के उदय होने से अन्धकार को फैलाने वाली और डर उत्पन्न करने वाली यह मिथ्यात्वरूप रात्रि इस दुनियां से यानी प्राणिमात्र के हृदय पर से बिलकुल विलीन हो जाती है।

यहां सम्यक्त्व को सूर्य और जिस आत्मा में यह प्रकट होता है उसे पर्वत बतलाया गया है तथा उसके लिये नमस्कार किया गया है। इसका कारण यह है कि सम्यक्त्व हो जाने पर आत्मा में एक प्रकार का अद्भुत सहज प्रकाश प्रकट होता

है जिससे यह आत्मा इसके साथ ही रहने वाले अनादिकालीन दब्बूपन (भीरूता) को त्याग कर सहज स्वाभाविक प्रभुत्व की प्राप्ति कर लेता है। एवं वह इतर सर्व साधारण के लिये नम्रतापूर्वक चल कर पर्वत के समान स्वीकार्य हो लेता है। सूर्य के न होने से अन्धकारमय रात्रि होती है जिससे कोई भी ठीक मार्ग नहीं पाता एवं डरपोक होकर अकर्मण्य ही रहता है, वैसे ही सम्यक्त्व के न होने से यह संसारी जीव भूल में पड़कर दिग्भ्रान्त होते हुये भयभीत बन रहा है।

हमारे आगम ग्रन्थों में भय-इहलोकभय, परलोकभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय, मरणभय और अकस्मात्‌भय के भेद से सात प्रकार का बतलाया गया है जिसके फन्दे में यह संसारी जीव फंसा हुआ है॥ परन्तु सम्यक्त्वशाली आत्मा उससे बिलकुल रहित होता है। वह कैसे ? सो बताते हैं-

संसारी जीव अपने वर्तमान शरीर को तो इहलोक और आगे प्राप्त होने वाले शरीर को परलोक समझता है। अत: वह सोचता है कि यह दृश्यमान इतर सब लोग न मालूम मेरा (इस शरीर का) क्या बिगाड़ कर दें, ऐसा तो इस लोक का भय इसे बना रहता है, और परलोक में न मालूम क्या होगा, इस प्रकार आगे का भय बना रहता है, परन्तु आत्मानुभवी सम्यक्त्वी जीव समझता है कि मेरा लोक तो चैतन्यमात्र है वह तो मेरा मेरे साथ है। उस पर किसी का कोई चारा नहीं चल सकता। उसके सिवाय और सब परलोक है। उससे वस्तुत: मेरा कोई लेन-देन सम्बन्ध नहीं है, फिर डर कैसा ? कुछ भी नहीं। शारीरिक विकार का नाम वेदना है। संसारी जीव इस शरीर को आप रूप या अपना मानता है। इसलिये इसमें वातपित्तादि की हीनाधिकता से गड़बड़ होती है तो इस जीव को दु:ख होता है अत: डरता है। परन्तु सम्यक्त्वी जीव तो आत्मा को शरीर से बिल्कुल भिन्न अनुभव करता है। अत: शरीर के बिगाड़ में उसका कोई भी बिगाड़ नहीं। फिर उसे डर ही क्या, कुछ नहीं।

मोही जीव धन, मकान वगैरह को अपने मान कर उन्हें बनाये रखना चाहता है। सोचता है कि इन्हें कोई चोर, लुटेरा ले जायेगा तो मैं क्या करूंगा, उससे मैं इन्हें कैसे बचा सकूंगा, मेरी खुद की तो इतनी शक्ति नहीं है और दूसरा मेरा कोई

सहायक नहीं है जो कि मेरी रक्षा करे (अरक्षाभय) एवं ऐसा कोई गुप्त स्थान भी नहीं है जहां पर कि मैं इन्हें छुपाकर रक्खूं, इत्यादि (अगुप्तिभय) किन्तु निर्मोही वैराग्यशाली जीव के विचार में सिवाय आत्मज्ञान के उसका और कुछ होता ही नहीं, ज्ञान को कोई चुरा नहीं सकता है, न कोई उसका कुछ बिगाड़ कर सकता है, बल्कि उसकी आत्मा में तो दूसरा कोई कभी प्रवेश ही नहीं कर सकता, फिर उसे डर कैसा! संसारी जीव अपने शरीर की उपज को अपना जन्म और उसके नाश को अपना मरण मानता है जो कि अवश्यंभावी है अत: वह हर समय भयभीत बना रहता है, किन्तु निर्मोही जीव के अनुभव में तो उसकी आत्मा अजर-अमर है, उसका कभी मरण हो नहीं सकता, वह तो सदा स्वयं जीवनमय है अत: उसे मरण का भय भी क्यों हो?

अज्ञानी संसारी प्राणी को अकारण अनोखी नई चीज के पैदा होने का आकस्मिक भय हुआ करता है। वह सोचता रहता है कि न जाने किस समय क्या कोई नया बवाल (बखेड़ा) खड़ा हो जावे जिससे कि मुझे कष्ट में पड़ना पड़े, किन्तु ज्ञानी वैराग्यशाली के ज्ञान में बेबुनियाद नई चीज न तो कभी हुई और न हो ही सकती है। जो कुछ होता है वह अपने सहायक कारण-कलाप को लेकर उपादान के अनुसार हुआ करता है, ज्ञान का काम जो कि सबको जाना करता है, सिर्फ उसे जानने का है, उससे उसका कोई भी बिगाड़-सुधार नहीं है। इस प्रकार जो समझदार है, जिसके अन्तरङ्ग में सच्चा प्रकाश है उसे इस भूतल पर किसी भी तरह का कोई भी डर नहीं, वह निर्भय होकर रहता है: किन्तु जो अज्ञानी है वह भूल खा रहा है, उसके लिये डर ही डर है। जैसी कि लोकोक्ति भी है-

शोकस्थानसहस्राणि, भयस्थानशतानि च।
दिवसे-दिवसे मूढमाविश्यन्ति न पण्डितं॥

शोक के हजारों कारण और भय के सैकड़ों कारण प्रतिदिन मूर्ख को आविष्ट करते हैं, ज्ञानी को नहीं अर्थात् मूर्ख मनुष्य बात-बात में भय और शोक ही किया करता है।

अत: उस सम्यक्त्व रत्न का आदर करना ही स्वहितैषी का कार्य है इसलिए

उस सम्यक्त्व का ही हम आगे वर्णन करते है॥१॥

सम्यक्त्वमेवानुवदामि तावत्त्विपत्पयोधेस्तरणाय नावः।
समं समन्तादुपयोगि एतद्अस्मादृशां साहजिकश्रियेऽतः॥२॥

अन्वयार्थः- (सम्यक्त्वमेव) सम्यक्त्व ही (विपत्पयोधेः) विपत्तिरूपी सागर से (तरणाय) तिरने के लिए (नावः समं) नाव के समान है। (एतत्) यह सम्यग्दर्शन (अस्मादृशां) हम जैसों के लिए (समन्तात् उपयोगी) सर्वोपयोगी है; अतः साहजिकश्रिये अनुवदामि अतः अपनी सहज सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये मैं उसी का वर्णन करता हूं॥२॥

अर्थः- सम्यक्त्व जो है वही इस विपत्तियों के समुद्र संसार से तैर करके पार हो जाने के लिये नौका के समान है और हम सरीखे चिर संक्लिष्ट देहधारियों के लिये सर्वोपयोगी है अतः मैं उस सम्यक्त्व का अनुवाद करता हूं, वर्णन कर रहा हूं, उसके गीत गाता हूं क्योंकि वह हमें हमारी अनादिकाल से भूली हुई स्वाभाविक सम्पत्ति का देने वाला है।

किसी के भी गीत गाना उसके प्रति अभिरूचि प्रकट करने का साधन है, मतलब जो जिसकी अभिरूचि रखता है, वही उसके गीत गाया करता है और जो अभिरूचि रखता है वह एक-न-एक दिन उसे प्राप्त भी कर लेता है। अतः प्रारम्भिक अवस्था में उसके गीत गाना उचित है। सम्यक्त्व हमारी अभिप्रेत चीज है अतः उसके गीत गाना, उसका वर्णन करना परमावश्यक हो जाता है॥२॥

समञ्चतीत्येव हि सम्यगस्ति, तत्त्वं तु तद्भाव इति प्रशस्ति।
शुद्धात्मतायाँ वचनं तदेतदंगीकरोत्युत्तम मर्त्यचेतः॥३॥

अन्वयार्थः- (समञ्चति इति एव हि सम्यगस्ति) जो पूर्णरूप से, भलीप्रकार से (अपने सहज स्वभाव में) गमन करता हो वह सम्यक् है। (तद्भावः तत्त्व इति प्रशस्तिः) उसका भाव सम्यक्त्व है। ऐसी प्रशस्ति है। (उत्तममर्त्यचेतः शुद्धात्मतायां

तदेतत् वचनं अंगीकरोति) उत्तम बुद्धिवाला मनुष्य (सम्यग्दृष्टि) इस वचन को शुद्धात्मा-आत्मा की शुद्ध अवस्था के अर्थ में ही अंगीकार करता है।।३।।

अर्थ:- संस्कृत भाषा में 'सं' एक उपसर्ग है जिसका अर्थ होता है पूर्णरूप से और अच्छी तरह से। अञ्च् धातु है जिसका अर्थ 'अञ्चगतिपूजनयो:' इस आर्षवाक्यानुसार गमन करना और पूजन करना होता है। अब समञ्चति अर्थात् जो अच्छी तरह से गमन करता हो, अपने सहज स्वभाव में परिणमन कर रहा हो वह 'सम्यक्' ऐसे क्विप् प्रत्यय होकर शब्द बन जाता है। अब गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थ में भी ली जाया करती है तो फिर उसका अर्थ हो जाता है कि जो पूर्ण रूप से सम्पूर्ण विश्वभर के पदार्थों को एक साथ जानता हो वह सम्यक् है, ऐसा भी अर्थ बनता है। 'तद्भावस्तत्त्वं' ऐसे भाव सामान्य के अर्थ में उसके साथ 'त्व' प्रत्यय लगाया जाकर 'सम्यक्त्व' बनता है जिसका अर्थ होता है- सम्यक्पना; आत्मा की शुद्ध अवस्था-सर्वज्ञता, वीतरागता। जिसकी याद आना मङ्गलकारक और उसका प्राप्त हो जाना सो स्वयं मंगलमय है, ऐसा विद्वानों का मत है। जैसा कि पण्डित दौलतरामजी ने कहा है-

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग संभारिके।।

ऐसा ही पं० टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रारंभ में लिखा है-

मंगलमय मंगलकरन, वीतराग विज्ञान।
नमो ताहि जाते भये, अरहन्तादि महान्।।

सम्यक्त्व सामान्यतया एक होकर भी विशेषता की अपेक्षा से तीन भागों में विभक्त हो जाता है-

तद्दर्शन-ज्ञान-चरित्र भेदं, प्रणीयते पूर्णतया मयेदं।
मुक्ते:स्वरूपं परथा तदध्यायतोऽभ्यधीता खलु तीर्थकृद् वाक्।।४।।

अन्वयार्थ:- (मया) मेरे द्वारा (दर्शनज्ञानचारित्र भेदं तत्-तत्वं) दर्शन, ज्ञान

चारित्ररूप भेद से युक्त वह तत्व प्रणीयते निरूपित किया जाता है। (इदं पूर्णतया मुक्तेः स्वरूपं) यह तत्त्वं पूर्णरूप से मुक्ति का स्वरूप है। (परथा) अन्य प्रकार से कहा जाए तो (तदध्वा) मुक्ति का मार्ग है। (यतः खलु तीर्थंकृद्वाक् अभ्यधीता) क्योंकि मैंने तीर्थङ्कर की वाणी का अच्छी तरह अध्ययन किया है।।४।।

अर्थः- तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान के शासन में सम्यक्त्वरूप सामान्य है। वह दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप में तीन विशेषों-भेदों को लिये हुए होता है। आत्मा जिसे चेतन कहा जाता है वह एक वस्तु है गुणी है; अनेक गुणों का अखण्ड पिण्ड है और दर्शन, ज्ञान, चारित्र, यानी मानना, जानना और प्रवर्तना ये तीन उसके खास गुण हैं। इन तीनों की ठीक अवस्था का नाम ही सम्यक्त्व है जो कि जब अपनी परिपूर्ण दशा पर पहुंच जाता है, उस समय वह मुक्तिमय-स्वतन्त्रता रूप होता है, किंतु अपूर्ण दशा में मुक्ति का मार्ग कहलाता है।।४।।

मिथ्यात्वमेतस्य च वैपरीत्यं, यतोऽकमात्माऽयमुपैति नित्यं।
अनादितः कर्ममलीमसत्वान्निमित्तनैमित्तिकतोऽप्यतत्वा।।५।।

अन्वयार्थः- (एतस्य) इस सम्यक्त्व का (च वैपरीत्यं मिथ्यात्वम्) विपरीत मिथ्यात्व है। (यतः) जिससे (अयं आत्मा नित्यं अकं उपैति) यह आत्मा अनादि से सदैव दुःख ही प्राप्त करती रही है। (अनादितः अतत्) यह मिथ्यात्वरूप अवस्था आत्मा की अनादिकालीन है। (कर्ममलीमसत्वात्) क्योंकि कर्मों का मैल लगा हुआ है (अपि वा निमित्तनैमित्तिकतः) ऐसा ही निमित्तनैमित्तिकपना भी है।।५।।

अर्थः- इस आत्मा की विपरीत परिणति का अथवा यों कहो कि इस आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चरित्र गुणों की बिगड़ी हुई हालत का नाम ही मिथ्यात्व है; जिससे कि यह आत्मा निरन्तर दुःख का भाजन बन रहा है। यह मिथ्यात्वरूप अवस्था इस आत्मा की अनादिकालीन है क्योंकि इस आत्मा के साथ में सदा से ही कर्मों का मैल लगा हुआ है जिसके निमित्त से आत्मा अपने आप से गिरकर और् का और बना हुआ है जैसे खान के सोने के साथ कीट मिला हुआ होता है तो उसकी चमक

यथेष्ट नहीं हुआ करती ।अस्तु॥५॥

यत्स्यान्निमित्तं विकरोति वस्तु नैमित्तिकं विक्रियते तदस्तु।
वाह्निघृतं द्रावयतीत्यनेन, घृतं पुनः संद्रवतीश्रियेनः ॥६॥

अन्वयार्थः- (यत् वस्तु विकरोति) जो वस्तु विकार पैदा कर देती है (तद् निमित्तं स्यात्) वह निमित्त होती है। (विक्रियते नैमित्तिकं) जिसमें विकारपना या अन्यथापना हो जाता है वह नैमित्तिक होती है। (वह्निः घृतं द्रावयति) जैसे अग्नि घी को पिघला देती है (घृतं पुनः संद्रवति) फिर घी भी पिघल जाता है इसमें अग्नि निमित्त स्वरूप है और द्रवीभूत घी नैमित्तिकरूप है॥६॥

अर्थः- जो जिस किसी को और का और कर सकता हो, यह उसका निमित्त है किन्तु जो उसके द्वारा और रूप में परिणत हो जाया करता हो वह उसका नेमित्तिक होता है: जैसे-हम घृत को तपाना चाहते हैं तो उसे अग्नि पर रख देते हैं, इससे वह पिघल जाता है, आग उसे पिघला देती है।

शङ्का- आप यह क्या कह रहे हैं कि अग्नि घृत को पिघला देती है; नहीं, अग्नि घृत को नहीं पिघला सकती किन्तु वह अपनी योगयता से पिघलता है।

समाधान- ठीक है, घृत में पिघलने की योग्यता है अग्नि (उष्णता) के द्वारा, तभी तो वह उससे पिघलता है और अग्नि में घृत को पिघला देने की योग्यता है क्योंकि उसके संयोग बिना वह पिघल नहीं पाता। यही तो निमित्त-नैमित्तिकता है। जो जिसके बिना नहीं हो पाता और जिसके होने पर हो ही जाता है उस (कारण) का वह कार्य है, ऐसा हमारे सभी आचार्यों ने माना है। जैसे कि सूर्य के न होने पर दिन नहीं होता और सूर्य के उदय में दिन हो ही जाता है अतः सूर्य दिन होने का कारण एवं दिन उसका कार्य है यानी सूर्य के द्वारा दिन होता है ।

शङ्का- आपके कथन में तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के अधीन हो जाता है। हमने तो सुना है, जैनधर्म कहता है कि कोई किसी को पैदा करने वाला नहीं है,

हर एक द्रव्य स्वतन्त्र स्वयंसिद्ध है।

समाधान- ठीक है, द्रव्यता के रूप में सभी द्रव्य अनाद्यनिधन हैं। न तो कोई भी द्रव्य किसी के द्वारा पैदा किया हुआ है और न कभी वह नष्ट ही होगा। अत: न तो कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कार्य है और न कारण ही क्योंकि कार्य कारणता पर्याय दृष्टि में होती है। प्रत्येक द्रव्य में उस गुण की पूर्व पर्याय का नाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है।

पर्याय, अर्थ-पर्याय और व्यंञ्जन पर्याय के भेद से दो प्रकार की होती है। प्रति समय सूक्ष्म सदृश परिणमन होता रहता है, उसका नाम अर्थ पर्याय है। वह सहज होती रहती है परन्तु द्रव्यत्व गुण के परिवर्तन रूप जो व्यंञ्जन पर्याय होती है वह पर द्रव्य सापेक्ष ही होती है। देखो, हरेक पुद्गल परमाणु में उसके रूप रस, गन्ध और स्पर्श गुण का परिणमन सहज स्वतन्त्र होता रहता है परन्तु वही दूसरे परमाणु के संयोग बिना स्कन्धरूपता में नहीं आता। मतलब भिन्न-भिन्न दो परमाणुओं में जो स्कन्धपना आता है वह उनमें एक दूसरे के द्वारा ही आता है, इसको कौन समझदार स्वीकार नहीं करेगा। दो परमाणु मिलकर जो स्कन्ध बना वह उनकी एक व्यञ्जन पर्याय हुई। व्यञ्जन पर्याय को ही कार्य कहते हैं जो कि उपादान और निमित्त विशेष दोनों की सहयोगिता से होता है, अन्यथा नहीं होता। ऐसा हमारे हरेक आचार्य बतला गये हैं तथा मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार दो में पं० टोडरमलजी लिखते है-

''कि निमित्त न बने तो न पलटे'' अर्थात् निमित्त न होवे तो कार्य नहीं होता है तथा ऐसा ही अनुभव में भी आया है। फिर भी जो लोग ''निमित्त न मिले तो कार्य नहीं होता, ऐसी मान्यता मिथ्या है।'' ऐसा कहते हैं, उनकी वे ही जाने। जैन शासन से तो उनका कोई समर्थन होता नहीं है।

शङ्का- जैनागम में लिखा है कि क्रमभाविन: पर्याया: अर्थात् पर्याय एक के बाद एक क्रमश: होती है। जिस गुण की जिस समय जो पर्याय होनी है वही होती है तब फिर अगर निमित्त न मिले तो वह कार्य (पर्याय) न हो, यह कहना कैसे बन

सकता है ?

समाधान- यह तो ठीक है कि द्रव्य में उस द्रव्य के सभी गुण सदा एक साथ रहने वाले होते हैं परन्तु उसकी सभी पर्यायें अथवा उसके एक गुण की भी सभी पर्यायें एक साथ नहीं होतीं, भिन्न-भिन्न काल में होती हैं, क्रमवार उपजती हैं। क्रम भी दो तरह का होता है एक अनुक्रम दूसरा व्युत्क्रम। जैसे कि बालकपन के बाद युवापन और युवापन के बाद वृद्धपना आता है यह तो अनुक्रम हुआ किन्तु दांतों का गिर पड़ना या बालों का सफेद होना वृद्धपने में होता है। वह किसी-किसी के कारण विशेष से जवानी में ही हो जाता है और किसी के वृद्धावस्था में भी नहीं होता। वृद्धावस्था में होने वाली दृष्टि की मन्दता किसी के जवानी में ही हो जाती है और फिर वृद्धावस्था के समय वापिस दिखने लग जाता है। यह व्युत्क्रम हुआ करता है। एक रेलगाड़ी के बीस डिब्बे अपनी साधारण व्यवस्था में एक के बाद एक अनुक्रम से लोहे की पटरी पर ठीक निश्चित रूप से चलते रहते हैं, मगर जब सामने से दूसरी गाड़ी आकर टकराती है तो उसका कोई डिब्बा आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे हो लेता है एवं कोई इधर-उधर होकर गिर पड़ता है। यह सब व्युत्क्रम उस गाड़ी की टकरावनरूप निमित्त विशेष से ही होता है। आम के एक गाछ पर आम दस दिन में पकने वाले होते हैं, उन्हीं को तोड़कर पाल में दे दिये जावें तो वे तीन-चार दिन में ही उस पाल की विशेष गर्मी से पक कर तैयार हो जाते हैं, ऐसा हमारे आगम में भी बतलाया है। तथा जो आम पेड़ पर लगा हुआ है, कच्चा है, कुछ दिनों में पकने वाला है, उस पर एक सर्प ने आकर विष उगल दिया तो वह आम चटपट अपने हरेपन को त्याग कर पीला एवं अपने कठोरपन को छोड़ पिलपिला बन जाता है, मगर उसका स्वाद जैसा समय पर पकने से होने वाला था, वैसा न होकर कुछ और ही तरह का होता है। इस प्रकार का यह व्युत्क्रम निमित्त विशेष से ही होता है।

शंका- मान लिया कि द्वीपायन के निमित्त से द्वारिका नष्ट हुई मगर सर्वज्ञ भगवान श्री नेमिनाथ ने तो बतला दिया था कि अमुक समय पर नष्ट होगी। उस समय ही

वह नष्ट हुई क्योंकि उस द्वारिकारूप स्कन्ध के पुद्गल परमाणुओं में तादृश परिणमन होने वाला था, सो ही हुआ।

समाधान- श्री नेमिनाथ स्वामी ने जैसे यह बतलाया था कि द्वारिका अमुक समय जलेगी वैसे ही यह भी तो बतलाया था कि द्वीपायन के द्वारा जलेगी, बस तो यह कार्य जैसा श्री नेमिनाथ स्वामी ने कहा था उसी समय हुआ किन्तु हुआ, द्वीपायन रूप निमित्त के द्वारा, उसके आने से।

शंङ्का- ठीक, निमित्त उपस्थित होता है सही, किन्तु कुछ करता नहीं है, कार्य तो अपनी उपादान शक्ति से ही होता है। जैसा कि ज्ञान होता है वह जानता है किन्तु करता नहीं, वैसे ही हरेक कार्य के समय निमित्त होता है।

समाधान- भैयाजी! क्या कहते हो, जरा सोचो तो सही। देखो, श्री महावीर भगवान ने ज्ञान को हरेक वस्तु का एवं हरेक कार्य के होने का ज्ञायक कहा है, जानने वाला बतलाया है, वह जानता है सब चीजों को, करता किसी को भी नहीं है; ठीक है; किन्तु निमित्त को तो कारण बतलाया है। कार्य के होने में जैसे उपादान कारण होता है वैसे ही निमित्त भी कारण होता है और उन दोनों से ही कार्य बनता है। उपादान तो कार्यरूप में आता है और निमित्त उसे कार्यरूप में लाता है अर्थात् निमित्त विशेष के प्रभाव से उसके दबाव में आकर ही उपादान जो है वह कार्य रूपता को स्वीकार करता है, यही वस्तु का वस्तुत्व है यही जैन शासन कहता भी है। याद रहे-कार्य नाम विकार का है, न कि सहज सदृश सूक्ष्म परिणमन का। अब ऐसा न मानकर यदि "निमित्त कारण उपादान में कुछ नहीं करता, न व सहायता मदद ही करता है और न किसी प्रकार का प्रभाव ही डालता है", ऐसा मानते हुए सिर्फ उपादान के भरोसे पर ही कार्य होना मान लिया जावे जैसा कि वस्तु विज्ञानसार में लिखा है और जैसा कि तुम समझ रहे हो, तो फिर इसमें सबसे बड़ा भारी दोष तो यह आ उपस्थित होगा कि यह जो संसार में विचित्रता दीख रही है वह नहीं होनी चाहिये क्योंकि द्रव्यत्व के नाते सभी जीवात्मायें समान हैं, सभी अनादिकाल से एक साथ हैं, सबके गुण भी समान हैं और उनकी पर्यायें निश्चित क्रम से किसी भी प्रकार

के व्युत्क्रम बिना एक अनुक्रम से होती हैं, फिर वहां विचित्रता का क्या काम? सबकी एक-सी दशा सदाकाल एक साथ ही होनी चाहिए। यही बात पुद्गल परमाणुओं के बारे में भी है। सभी पुद्गल परमाणु शाश्वत, नित्य हैं, पुद्गल-द्रव्यत्वेन एक से ही हैं, उनमें गुण भी स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण सब एक से हैं और पर्यायें उनकी सबकी ठीक अनुक्रम से ही होती है, फिर से अनेक प्रकार के स्कन्धादि क्यों हुए तथा क्यों हो रहे हैं? नहीं होने चाहिये। फिर तो एकं ब्रह्म. द्वितीयं नास्ति वाली ब्रह्मवादियों की कहावत के समान जैनमत के हिसाब से भी द्वे वस्तुनी तृतीयं नास्ति यह कहावत चरितार्थ होनी चाहिये। फिर बन्ध-मोक्ष, संयोग-वियोग, जन्म-मरण, इहलोक-परलोक और पुण्य-पापादि की चर्चा पर हड़ताल फेर देनी पड़ेगी। अत: मानना ही चाहिए कि जो भी कार्य होता है वह उपादान और निमित्त कारण इन दोनों के आधीन हुआ करता है। उपादान में तो होता है और निमित्त के द्वारा होता है। निमत्त भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, अत: कार्य भी अनेक भांति का बनता है। यही जैन दर्शन की मान्यता है।

शङ्का- जैन दर्शन में दो नय हैं, एक व्यवहार और दूसरा निश्चय नय। सो आप जो कुछ कह रहे हैं वह व्यवहार नय का पक्ष है। व्यवहार नय में निमित्त जरूर है परन्तु कानजी ने जो कुछ कहा है वह निश्चय नय से बतलाया है। निश्चय नय में तो कार्य अपने उपादान से ही होता है क्योंकि निश्चय नय तो स्वाधीनता का वर्णन करने वाला है, वह निमित्त की तरफ़ क्यों ध्यान दे, पराधीनता में क्यों जावे?

समाधान- निश्चय नय से यदि कहा जावे तो वहां पहले तो कारण-कार्यपन है ही नहीं, क्योंकि निश्चय नय तो सामान्य को विषय करने वाला है जहां कि न तो कोई चीज उत्पन्न ही होती है और न नष्ट ही, जैसा कि इस श्लोक में बतलाया है-

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।
निश्चयात्किन्तु पर्यायनयात्तावपि वस्तुनि॥

निश्चय नय से असत् पदार्थ का भाव-अस्तित्व नहीं होता और न सत् पदार्थ का कभी अभाव होता है, अर्थात् निश्चय नय की अपेक्षा न तो कोई चीज पैदा होती है और न नष्ट ही किन्तु पर्याय नय यानी व्यवहार की अपेक्षा तो वस्तु में दोनों हैं।

हां, यदि निश्चय नय विशेष से भी कहा जाये तो यहाँ कारण-कार्यपना माना जरूर है और वहां उपादान को ही कारण माना है निमित्त को नहीं, यह भी सही है क्योंकि उसकी दृष्टि में निमित्त होता ही नहीं। वह नय तो अभिन्न को विषय करने वाला है अत: उपादान को ही जानता है, जैसा द्रव्यसंग्रह में बताया है कि निश्चय नय से आत्मा अपने भावों का ही कर्ता है अर्थात् अभिन्नरूप में उसके भाव उससे ही होते हैं और से नहीं। सो ठीक ही है क्योंकि निमित्त भिन्न चीज है जिसकों निश्चय नय देखता ही नहीं है। फिर यह कहना कैसा कि निश्चिय नय में निमित्त होता तो हैं जरूर परन्तु कुछ करता नहीं है। निमित्त जो है सो व्यवहार नय का विषय है तो उसकी दृष्टि में वह कार्य का करने वाला भी है। जैसे-मान लो हमें स्याही बनानी है तो जिसके पास काजल है वह कहता है कि मेरे पास काजलं है तो इससे स्याही बनेगी। दूसरे ने कहा-लो, मेरे पास बीजाबोल है, इससे स्याही बनेगी। तीसरे न कहा-लो, मेरे पास नीला थोथा है, इससे स्याही बनेगी। चौथे ने कहा-लो, मेरे पास केले के थम्भ का स्वरस है, इससे स्याही बनेगी। पांचवें ने कहा-लो, मेरे पास में घोटना है, सो इस घोटने से स्याही बनेगी। स्याही बन गई। अब काजल वाला तो कहता है कि यह स्याही मेरे काजल से बनी है। बीजाबोल वाला कहता है कि यह स्याही मेरे बीजाबोल से बनी है, इत्यादि। इसी प्रकार घोटने वाला कहता है कि मेरे घोटने से यह स्याही बनी है। सभी अपने-अपने कारण से उसे बनी हुई बताते हैं, सो ठीक ही है। काजल वाला तो कहता है कि यह स्याही मेरे काजल से बनी है, उससे अगर पूछा जाय कि यह काजल से ही बनी है या और काई चीज से भी, तो वह कहता है कि मेरे काजल से जरूर बनी है और कुछ मुझे मालूम नहीं। यहां तक तो ठीक बात है। मगर वह यदि ऐसा कहे कि इस स्याही में है तो बीजाबोल वगैरह भी, फिर भी उन बीजाबोल वगैरह ने कुछ भी नहीं किया, स्याही तो मेरे काजल

से ही बनी है तो ऐसा उसका कहना झूठा ही है। इस पर तो, और बीजोबोज वगैरह को तो अभी रहने दो बल्कि वह घोटने वाला ही बोल उठेगा कि वाह! खूब कहा महाशय! जरा कहो तो सही कि यह मेरे घोटने के बिना कैसे बन गई। मैंने सात दिन-रात तक अपने घोटने से इसे घोटा है, तभी यह बन पाई है मेरा जी जानता है कि मैंने इसमें कितनी रगड़ लगाई है वरना तो स्याही बन ही जाती, मैं देखता कि कैसे बनती है। यह स्याही तो मेरे घोटने से ही बनी है तो इस पर उसे झूठा नहीं कहा जा सकता।

बस, तो इसी प्रकार सभी प्रकार का कार्य उपादान और निमित्त दोनों की समष्टि से बनता है। उसको निश्चयनय उपादान से बना कहता है और व्यवहारनय निमित्त से। सो तो यह ठीक है किन्तु उपादान से ही कार्य बना है निमित्त होकर भी कुछ नहीं करता, यह तो अनभिज्ञता है।'

वस्तुस्वरूप यह कहता है कि उभयविध कारण वस्तु में कार्य की उत्पत्ति में कारण ही है अकारण नहीं। यदि किसी एक कारण (जैसे निमित्त) को अकारण कहा जाय तो जगत् में चक्र, चीवर, धागा, पानी आदि की अनुपस्थिति में भी मिट्टी घटरूप परिणत होती हुई क्यों नहीं नजर आती। किञ्च, यदि यों कहा जाए कि 'कुछ भी हो पर कारण तो उपादान ही है' तो साधक कारण की उपस्थिति में तथा बाधक कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति सदा होनी चाहिये यानि सदा सब मिट्टी घटरूप परिणत हो जानी चाहिये क्योंकि उपादान कारण तो (मिट्टीरूप उपादान कारण) विद्यमान है फिर कार्य के सदा होने में क्या बाधा है? पर कार्य सदा होते हुए तथा सब मिट्टी घटरूप परिणत होती हुइ नजर नहीं आती अत: किसी ऐसे कारणान्तर की विचारणा बुद्धिधारियों को करनी चाहिए जो कार्य हेतु नियमत: साधक हो। बस ऐसे ही बाह्य कारण जो वस्तु के कार्यरूप परिणामन में अपरिहार्य हेतुता धारण करें (जैसे दिन-विकासी कमल के लिये सूर्य तथा रात्रि-विकासी कमल के लिए चांदनी अथवा घटके लिये उचित क्रिया से परिणत कुम्हार, चक्र, चीवर, उदक आदि) उन्हें निमित्त कहते हैं।

हे भव्य पुरूषों ! निश्चयैकान्त एक ऐसा गहन गृहीत मिथ्यात्व है कि जीव

अपने आपको महान् आध्यात्मिक व बोद्धा समझता हुआ भी अमितकाल तक संसार सागर से पार नहीं हो सकता।

पक्ष विशेष की **गौणता**-मुख्यता तो क्षम्य ही क्या श्लाध्य भी है पर तिरस्करणीयता जिनागम व दिव्यध्वनि से बाह्य है।

इतना कहने के पश्चात् भी जो कोई प्राणी अपना हठवाद न छोड़े तो उसका कल्याण अनन्त तीर्थङ्कर मिल कर भी नहीं कर सकते ।

कार्य-कारण का स्पष्टीकरण:

जो किया जाये वह कार्य कहलाता है। जिस किसी के द्वारा वह किया जा सके उसे कारण कहा जाता है। कारण सम्पादक है और कार्य सम्पादनीय। अब उस कार्य के होने में वह कारण दो प्रकार का होता है, एक **उपादन** दूसरा **निमित्त** जो स्वयं कार्यरूप में परिणित होता है उसे **उपादन** कारण कहते हैं। जैसे कि घट के लिये मिट्टी या उस मिट्टी की घट से पूर्ववर्ती पयार्य। किन्तु जो खुद कार्यरूप न होकर कार्य के होने में सहकारी हो उसे निमित्त कारण कहते हैं, जैसे घट के लिए कुम्भकार, चाक, दण्ड वगैरह।

वह निमित्त कारण दो तरह का होता है। एक प्रेरक और दूसरा उदासीन। प्रेरक कारण भी दो तरह का होता है, एक तो गतिशील सचेष्ट और इच्छावान, जैसे घट के लिये कुम्भकार, इसी को व्यवहारिक कर्त्ता भी कहते हैं। दूसरा सचेष्ट किन्तु निरीह प्रेरक निमित्त होता है जैसे कि घड़े के लिये चाक। उदासीन निमित्त वह कहलाता है जो निरीह भी होता है और **निश्चेष्ट** भी, जैसे कि घट के लिए चाक के नीचे रहने वाला शंकु, जिसके सहारे पर चाक घूमता है। समर्थ कारण उपादान और निमित्तों की **समष्टि** (समूह) का नाम है जिसके कि होने पर उत्तरक्षण में कार्य सम्पन्न हो ही जाता है। उन्हीं के भिन्न-भिन्न रूप में यत्र-तत्र हो रहने को असमर्थ कारण कहा जाता है अर्थात् वे सब कारण होकर भी उस दशा में कार्य करने को समर्थ नहीं होते हैं। प्रत्येक कार्य अपने उपादान के द्वारा उपादेय अर्थात् अभिन्नरूप से परिणमनीय होता है तो निमित्त में नैमित्तिक, अर्थात भिन्नरूप से सम्पादनीय क्योंकि उप

किलाभिन्नत्वेनाऽऽदानं धारणमधिकरणं तदुपादानं अर्थात् उप यह उपसर्ग है जिसका अर्थ होता है अभिन्नरूप में एकमेक रूप में, जैसा कि उपयोग शब्द में होता है। उपयोग यानी ज्ञान-दर्शन जो कि आत्मा से एकमेक होकर रहता है वैसे ही यहां पर तादात्म्य समझना। आदान का अर्थ धारण करना। अधिकरण या आधार एवं अभिन्नरूप से एकमेक होते हुए जो प्राप्त करनेवाला हो वह उपादान होता है।

नियमेन मीयते अङ्गीक्रियते तन्निमित्तं सहायकं वस्तु। यानी निमित्त का अर्थ होता है सहायक, सहयोग देने वाला, मददगार और जहां मदद की जाती है उसको नैमित्तिक कहते हैं। निमित्त-नैमित्तिकता भिन्न द्रव्यों में हुआ करती है सो यहाँ पर कार्मण स्कन्ध निमित्त है और आत्मा नैमित्तिक। वह कार्मणासमूह उदासीन निमित्त है जैसे कि (कमल के लिये) सूर्य का उदय जबरन कमल को नहीं खोलता परन्तु उसका निमित्त पाकर कमल खुद ही खिल उठता है, वैसे ही यह संसारी आत्म कर्मोदय के निमित्त से विकृत हो रहा है। वह विकार क्या है सो बताते है -

दुग्धे घृतस्येवतदन्यथात्वं, संविद्धि सिद्धिप्रिय भी हृदा त्वं।
इहात्मनः कर्मणि संस्थितस्य, सूपायतः सादि तथात्वमस्य ॥७॥

अन्वयार्थः- (भो सिद्धिप्रिय!) सिद्धि के स्वामी होने वाले हे आत्मन्! (यथा दुग्धे घृतस्य अन्यथात्वम् अस्ति) जैसे दूध में घी का अन्यथापना है (वह अपने स्वरूप में नहीं है।) (तथैव इह कर्मणि संस्थितस्य आत्मनः त्वं हृदा संविद्धि) वैसे ही यहां कर्मों में मूर्च्छित होकर रहने वाले आत्मा का अन्यथापना तू अपने हृदय में जान। (अस्य च सूपायतः तथात्वं सादि) श्रेष्ठ उपायों से -रत्नत्रयादि से इसका 'तथापना' सहजस्वाभाविक रूप प्रकट हो सकता है तब उसकी यह शुद्धता 'सादि' कहलाती है ॥७॥

अर्थः- सिद्धि के स्वामी होने वाले आत्मन्! यदि तू हृदय से विचार कर देखे तो तुझे समझ में आ जायेगा कि इन कर्मों में मूर्च्छित होकर रहने वाले तेरा वह अन्यथापना अनादिकालीन ऐसा है जैसा कि दुग्ध में ही रहने वाले घृत का।

मतलब यह कि घृत का स्वभाव ठण्डक में ठिर जाने का और गर्मी में पिघल जाने का तथा कपड़े वगैरह के लग जाये तो उसे चिकना बना देने का, किंवा यों कहो कि दीपक की बत्ती में होकर प्रकाश करने का है जो कि घृत शुरू से ही दूध में तन्मय हो छिप रहा है, इसलिये उस अपने स्वभाव को खोये हुए है वैसे ही आत्मा का भी स्वभाव विश्वस्तता, शान्तता और विश्व प्रकाशकता है परन्तु अनादिकाल से कर्मों में घिर कर मूर्च्छित हो रहा है अत: इसका वह सहज भाव लुप्त हो रहा है, उलटा बन रहा है, और का और हो गया है; अविश्वस्तता, उत्क्रान्तता और अनभिज्ञता के रूप में परिणत हो रहा हुआ है। हाँ, दूध में रह कर भी घृत की स्निग्धता अपना किञ्चित् स्फुटीकरण लिए हुए रहती है। उसके आश्रय से घृत को पहचान कर रई वगैरह के द्वारा विलोड़न करके दूध में से निकाल कर, फिर उसे अग्नि पर तपा, छानकर उसे छछेडू से भी भिन्न करके शुद्ध घृत कर लिया जाता है। वैसे ही कर्मों में सने हुए इस आत्मा का भी सिर्फ ज्ञान गुण अपना थोड़ा सा प्रकाश दिखला रहा है उसे बीजरूप मान कर सद्विचाररूप रई के द्वारा इस शरीर से भिंन्न छाँटकर तथा निरीहतारूप अग्नि में तपा कर उसमें से राग-द्वेष रूप छछेडू को भी दूर हटा कर इस आत्मा को भी शुद्ध बना लिया जा सकता है जो कि शुद्धत्व सादि और अन्नत है अर्थात् पूर्ण शुद्ध होने पर आत्मा फिर अशुद्ध नहीं होता हैं। जैसे कि मक्खन का घृत बना लेने के बाद वह फिर मक्खन नहीं बन सकता है।

शङ्का- आपने जो कहा कि अशुद्धता अनादि से है और शुद्धता सादि सो बात समझ में नहीं आई। हम तो समझते हैं कि जैसे सूर्य को बादल ढक लेते हैं वैसे ही आत्मा के गुणों को कर्मों ने ढक रखा है अत: अशुद्धता की तली में शुद्धता और मिथ्यात्व की तली में सम्यक्त्व छिपा हुआ है।

समाधान- तुम समझ रहे हो ऐसा नहीं है क्योकि शुद्ध अमूर्तिक आत्मा, मूर्तिक कर्मों के द्वारा कभी ढका नहीं जा सकता किन्तु संसारी आत्मा एक प्रकार से फटे दूध के सामान है। जैसे कांजी के मैल से दूध फट जाया करता है वैसे ही कर्मों के सम्बन्ध से आत्मा खुद बिगड़ी हुई है। विकार में निर्विकारपन नहीं रह सकता,

फूटा बर्तन समूचा नहीं कहाता, ऐसा समझना चाहिये।

शंका- फूटे बर्तन के सामान न मान कर संसारी आत्मा को उलटे बर्तन के समान और शुद्धात्मा को सुलटे बर्तन सरीखा कहा जाय तो क्या हानि है क्योंकि मिथ्यात्व का अर्थ भी उलटापन तथा सम्यक्त्व का अर्थ सुलटापन है?

समाधान- तुम्हारे कहने में तो अकेला बर्तन ही तो उलटा तथा वह अकेला ही सुलटा भी हो रहता है परन्तु आत्मा का हाल ऐसा नहीं है। इसके साथ में तो कर्मों का मैल है जिससे आत्मा उलटा नहीं किन्तु बिगड़ रहा है, खोटा हो रहा है। मिथ्यात्व का तथा सम्यक्त्व का अर्थ भी उलटापन तथा सुलटापन नहीं अपितु खोटापन एवं खरापन समझना चाहिये। अथवा तो चूक (भूल) और सूझ (विवेक) भी लिया जा सकता है और उसके विषय में हम एक उदाहरण देते हैं—

देखो, एक दिन एक आदमी घोड़े पर चढ़ कर जंगल में गया। वहां जाकर घोड़े को तो चरने के लिये छोड़ दिया और आप किसी पेड़ के नीचे आराम करने लगा। थोड़ी देर में बड़ी जोर की आंधी चलने लगी और सांझ हो गयी। इसी बीच में वह घोड़ा चरते-चरते दूर चला गया। उसके स्थान पर एक गधा आकर चरने लगा। अब जब वह आदमी वापिस घर चलने के लिये उठा तो उस गधे पर चढ़ कर चल दिया। अन्धेरी रात्रि में मार्ग भूल गया तथा अपने घर के भरोसे किसी सराय में जा घुसा। अब उस गधे को तो अपना घोड़ा और सराय को अपना घर मान रहा है, उसी के झाड़ने, पोंछने और साफ करने में लग रहा है। यह मेरा घोड़ा बड़ा चुस्त तेज चलने वाला है, यह मेरा घर भी पक्का बना हुआ है। इस तरह विचारता है तो क्या वह उसका घोड़ा है? घर है? नहीं है। तो क्या उसमें उसका घोड़ा और घर कहीं छिपा हुआ हैं। सो भी नहीं और न वहां पर उलटापन ही हैं अर्थात् उलट कर ऊपर का नीचे तथा नीचे का भाग ऊपर हो गया हो सो बात भी नहीं है; वहां तो और का और ही है। गधे को घोड़ा और सराय को घर कहा जा रहा है। बस, तो यही संसारी आत्मा का हाल है।

वस्तुद्वयं मूलतयाऽत्रभाति, यच्चेनाचेनचननामजाति।
आद्योऽयमात्मा खलु जीवनामास्वभावतो विश्वविदेकधामा।।८।।

अन्वयार्थः- (मूलतया अत्र वस्तुद्वयं भाति) मूलरूप से लोक में दो तरह की वस्तुयें हैं। (चेतनाऽचेतननामजाति) एक चेतन दूसरी अचेतन। (जीवनामा स्वभावतः विश्वविदेकधामा अयम् आत्मा खलु आद्यः) जीव नाम वाली, स्वभाव से सम्पूर्ण लोक को जानने वाली यह आत्मा चेतन वस्तु है।।८।।

अर्थः- इस दुनियां में मूलरूप से दो तरह की वस्तुयें हैं—एक चेतन दूसरी अचेतन। यह हमारी आत्मा जिसे जीव भी कहते हैं, चेतन है। यदि यह अपने सहज भाव पर आ जावे तो विश्वभर की सभी चीजों को एक साथ देखने-जानने वाला बन जाये परन्तु यह अपने आपे से गिरा हुआ है। इसलिये इसकी यह दशा हो रही है।

परः पुनः पञ्चविधः स धर्माधर्मौ विहाय परिवर्तनर्मा।
शेषः स्वयं दृश्यतयाऽनुलोमीजीवादयोऽन्येन हि रूपिणोऽमी।।९।।

अन्वयार्थः- (परः पुनः पञ्चविधः अचेतन) वस्तुयें पाँच प्रकार की हैं। (सः धर्माधर्मौ) धर्म और अधर्म विहायः आकाश परिवर्तनर्मा काल और शेषः स्वयं दृश्यतया अनुलोमी पांचवां दृश्यमान् मूर्तिक पदार्थ-पुद्गल अन्ये अमी जीवादयः रूपिणो न हि अन्य ये जीवादि पदार्थ-जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल रूपी नहीं हैं।।९।।

अर्थः- अर्थात् दूसरा पदार्थ अचेतन जो देख जान नहीं सकता, वह पांच प्रकार का है। १. धर्म, २. अधर्म, ३. आकाश, ४. काल, ५. पुद्गल। इन अचेतन पदार्थों में से पुद्गल नामा पदार्थ तो दृश्यता यानी रूप और उसके साथ रहने वाले रस, गन्ध एवं स्पर्श नामक गुणों का धारक मूर्तिक है; बाकी के चारों रूपादि रहित अमूर्तिक हैं। जीव भी रूपादि रहित अमूर्तिक है। किन्तु याद रहे कि जीव का यह अमूर्तिकपन संसारातीत शुद्ध दशा में होता है, संसारावस्था में तो कर्मों के साथ एकमेक हो रहने

के कारण मूर्तिक ही है जैसे कि तिल के साथ में रहने वाला तेल अपने पतलेपन से रहित घनरूप होकर रहता है। ऐसा जैनशासन में बतलाया है। देखो श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार की गाथा नं० ५६ में ववहारेण दु एदे जीवस्य हवंति वण्णमादीया-ऐसा लिखा हुआ है, फिर भी वह छद्मस्थों के दृष्टिगोचर होने योग्य स्थूलता में कभी नहीं आता, क्योंकि इसके साथ में लगे हुए कर्मस्कन्ध भी सूक्ष्म ही होते हैं।

अब छहों द्रव्यों की अपनी-अपनी संख्या क्या है, सो बताते हैं-

धर्मोऽप्यधर्मो नभ एकमेव, कालाणवोऽसंख्यतयामुदेव।
भो पाठका ज्ञानधरा अनन्ताद्दश्याणवोऽनन्ततयाप्यनन्ताः ॥१०॥

अन्वयार्थः- (भो ज्ञानधराः पाठकाः!) हे ज्ञानधारी पाठकों! (धर्मः अधर्मः अपि नभः एकमेव) धर्म अधर्म और आकाश (भी) एक-एक ही है। (कालाणवः असंख्याताः) कालाणु असंख्यात हैं। (अनन्ताः दृश्याणवः अनंतया अनंताः अपि) कभी नष्ट न होने वाले पुद्गल द्रव्य के प्रदेश अनन्तता के कारण अनन्त तथा (अपि शब्द से) संख्यात-असंख्यात भी हैं। (एतत्सर्वं) वः मुदे यह सब तुम्हारे हर्ष के लिए हो ॥१०॥

अर्थः- अर्थात् गमनशील जीव और पुद्गल को मछली को जल की भांति गमन करने में सहायक हो उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। यह एक है और असंख्यातप्रदेशी है और सम्पूर्ण लोकाकाश में फैला हुआ है। स्थानशील जीव और पुद्गल को जो ठहरने में सहायक हो जैसे कि पथिक को छाया अथवा रेलगाड़ी को स्टेशन सो यह अधर्म द्रव्य है। असंख्यातप्रदेशी है और तमाम लोकाकाश में व्याप्त है।

शंकाः- जब चलने की और ठहरने की शक्ति जीव द्रव्य में या पुद्गल द्रव्य में है तो वह अपनी शक्ति से ही चलता है या ठहरता है। धर्म द्रव्य या अधर्म द्रव्य उसमें क्या करते हैं?

समाधानः- ठीक है चलने की शक्ति तो जीव द्रव्य की है मगर धर्म द्रव्य के निमित्त से वह चल सकता है, ऐसा जैन सिद्धांत है-जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्र में लिखा है-तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥१०-५॥ अर्थात् समस्त कर्मों

का क्षय होने के बाद मुक्त जीव लोक के अन्तभाग पर्यन्त ऊपर को (नियम से) जाता हैं, यह बात सही है, किन्तु वह आगे क्यों नहीं जाता, इस प्रकार की शंका इसमें आ धमकती है। इसके उत्तर में आचार्य श्री ने बतलाया है कि धर्मास्तिकायाभावात्॥१०-८॥ अर्थात् अलोकाकाश में गमन करने के लिये निमित्तभूत धर्मद्रव्य का अभाव है, इसलिये जीव वहां नहीं जाता। श्री तत्त्वार्थसूत्रजी के इस कथन से द्रव्य का स्वातन्त्र्य और निमित्ताधीनता-ये दोनों बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

जीव की अपनी शक्ति का कोई उपयोग न हो और सिर्फ धर्म द्रव्य की सहायता से ही गमन होता हो तो फिर धर्म द्रव्य तो तमाम लोक में नीचे और इधर-उधर भी है किन्तु मुक्त जीव इधर-उधर न जाकर ऊपर को हो जाता है क्योंकि वह स्वभावाधीन है। अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण ऊपर को ही जाता है। यह तो है जीव द्रव्य की गमनविषयक स्वतन्त्रता परन्तु गमन करता है धर्म द्रव्याधीन होकर। जहाँ धर्म द्रव्य नहीं वहां गमन नहीं हो सकता। जैसे रेलगाड़ी चलती है अपनी शक्ति से किन्तु पटरी न हो तो वह नहीं चल सकती। यह हुई निमित्ताधीनता और इसी का नाम सहायता है। यदि ऐसा न हो तो फिर धर्म द्रव्य के मानने की जरूरत ही क्या है? कुछ भी नहीं। किन्तु जैन धर्म कहता है कि धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य है जो जीव और पुद्गल चलने और ठहरने में मदद करते हैं। अधर्म द्रव्य न हो तो उनका चलते-चलते ठहरना नहीं हो सकता और धर्म द्रव्य न हो तो उनका चलना नहीं हो सकता। यदि स्वभाव से ही चलना अभीष्ट होता तो फिर 'धर्मस्तिकायाभावात् ऐसा सूत्र न कह कर उसके स्थान पर-तथास्वभावात् यानी लोकाकाश के अन्त तक ही गमन करने का तथा उससे ऊपर नहीं जाने का ही स्वयं जीव का स्वभाव है, ऐसा सूत्र बनाया जा सकता था, किन्तु जीवादि पदार्थ का परिणमन कथंचित् स्वतंत्र होता है तो कथंचित् परतन्त्र भी। यानी वह परिणमन दो प्रकार का होता है एक तो अर्थ पर्यायरूप सदृश परिणमन दूसरा व्यञ्जन पयार्यरूप विसदृश परिणमन। सो अगुरुलघु गुणाधीन सदृश परिणमन-सूक्ष्म परिणमन तो निरन्तर सहज होता रहता है किंतु प्रदेशत्व गुण के विकाररूप जो विसदृश परिणमन होता है वह निमित्त सापेक्ष ही होता है। जीव और पुद्गल का गमनरूप परिणमन धर्म द्रव्य को निमित्त लेकर उसकी सहायता से और स्थानरूप

परिणमन अधर्म द्रव्य को निमित्त लेकर उसकी सहायता से होता है, ऐसा कहना ठीक ही है। जो सब चीजों को जगह देता है वह आकाश द्रव्य कहलाता है, यह अनन्तप्रदेशी सर्वव्यापी एक द्रव्य है। जितने आकाश में सब द्रव्य पाये जाते हैं उतने आकाश को लोक कहते हैं और उससे बाहर जो सिर्फ आकाश है उसे अलोक कहा जाता है।

जो सब द्रव्यों को परिवर्तन करने में सहायक हो उसे काल द्रव्य कहते हैं। यह लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में एक-एक प्रदेश पर एक-एक अणु के रूप में भिन्न-भिन्न स्थित है।

जीव द्रव्य अनन्त हैं सो भिन्न-भिन्न एक-एक जीव लोकाकाश के जितने प्रदेशों वाला असंख्यात प्रदेशी है, मगर दीपक के प्रकाश की भांति संकोच विस्तार शक्ति को लिए हुए है। अत: जितना बड़ा शरीर पाता है उसी प्रमाण होकर रहता है; मुक्त दशा में अपने अन्तिम शरीर के आकार, उससे कुछ न्यूनदशा में रहता है।

पुद्गल द्रव्य भिन्न-भिन्न अणुरूप अनन्तानन्त है। पुद्गलाणु अपने स्निग्ध और रुक्षगुण की विशेषता से परस्पर मिल कर स्कन्धरूप हो जाते हैं। इस अपेक्षा से पुद्गल द्रव्य भी बहुप्रदेशी ठहरता है।

अत: एक काल द्रव्य को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हें।

जीवाश्च केचित्त्वणवः स्वतन्त्राः, केचित्तु सम्मेलनतोऽन्यतंत्राः।
कौमारमेके गृहितांच केऽपि, नराश्चदारा अनुयान्ति तेऽपि॥११॥

अन्वयार्थ:- (केचित् तु स्वतन्त्रा:) छह द्रव्यों से कुछ तो-धर्म, अधर्म, आकाश और काल सदा से स्वतन्त्र है। (केचिच्च अणव: जीवाश्च स्वतन्त्रा: सम्मेलनत: अन्यतन्त्रा:) जीव और पुद्गल ये स्वतन्त्र भी होते हैं और परस्पर मिलने से परतन्त्र भी। (एके कौमारम्) जैसे कुमारावस्था में स्त्री पुरूष एकाकी होने के कारण स्वतन्त्र रहते हैं। (केऽपि नराश्च दाराश्च गृहितां अनुयान्ति) परन्तु जो स्त्री-पुरूष (विवाह रचाकर) गृहस्थीपने

को प्राप्त होते हैं (वे परस्पर परतन्त्र भी हो जाते हैं) ॥११॥

अर्थ:- अर्थात उपर्युक्त छह द्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो सदा से स्वतन्त्र है। इनका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनके अधीन है, किन्तु जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य स्वतन्त्र भी होते हैं और परतन्त्र भी। जब एकाकी होते है तो स्वतन्त्र किन्तु दूसरे द्रव्य के मेल से इनका परिणमन परतन्त्र भी होता है। जैसा कि पुरूषों तथा स्त्रियों में से कितने ही पुरूष कुंवारे और कितनी ही स्त्रियां कुंवारी रहती है; बाकी के पुरूष और स्त्रियाँ एक दूसरे के साथ अपना विवाह सम्बन्ध करके गृहस्त बनते है तो उनका रहन-सहन परस्पर अधीन होता है एवं उनमें एक प्रकार की विलक्षणता आ जाती है।

शंङ्का- क्या विलक्षणता आ जाती है? क्या वे नर-मादा नहीं रहते?

समाधान- रहते तो नर-मादा के नर मादा ही है फिर भी उनमें एकाकीपने में जो बात थी वह फिर नहीं रहती। देखो, विशल्या में ब्रह्मचारिणी की अवस्था में जो सर्वरोगहरण शक्ति थी, लक्ष्मण के साथ विवाह हो जाने पर उसमें वह शक्ति नहीं रही। वैसे ही पर-द्रव्य संयोग विशेष होने पर द्रव्य में स्वाभाविकता नहीं रहती। देखो कि-

धर्मोऽप्यधर्मोऽपि नमश्चकाल: स्वाभाविकार्थक्रिययोक्तचाल:।
जीवस्तथा पुद्गल इत्युदार, परिव्रजेद्विक्रिययापि चार॥१२॥

अन्वयार्थ:- (धर्म: अधर्म: नभ: काल: च स्वाभाविकार्थक्रिययोक्तचाल:) धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य ये अपनी सहज चाल से अर्थक्रिया-परिगमन करते रहते हैं। (जीव: पुद्गल: च विक्रियया अपि अरम् उदारं परिव्रजेत् इति) जीव और पुद्गल परस्पर मिलने पर विक्रिया से उदारता को प्राप्त होते है अर्थात् उनमें विकारी परिणमन होने लगता है, सहज स्वाभाविक परिणमन नहीं रह पाता।

अर्थ:- अर्थात् धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल द्रव्य ये चारों द्रव्य

किसी के साथ अपना किसी प्रकार का नाता नहीं जोड़ते अत: ये सब ठीक एक अपनी उसी सहज चाल से परिणमन करते रहते है परन्तु जीव और पुद्गल इन दोनों की ऐसी बात नहीं है। ये जब एक दूसरे के साथ सम्मिलन को प्राप्त होते है तो एक और एक ग्यारह वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए उदारता दिखाते है यानी अपनी सहज स्वाभाविक हालत से दूर रहते हुए विकार से युक्त होते हैं। "एक सो नेक किन्तु मेल में खेल होता हे।" दो चीजों के मेल में विकार आये बिना नहीं रहता। अपने सहज क्रमबद्ध परिणमन के स्थान पर व्युत्क्रम को ही अपनाना पड़ता है जैसे अकेला पथिक अपनी ठीक चाल से चलता है, किन्तु वही जब दूसरे के साथ होता है तो दोनों को अपनी चाल मिलानी पड़ती है तो साथ निभता है एवं विचित्रता आ जाती है। देखो पुद्गलाणु से पुद्गलाणु का मेल होने पर अपनी परम सूक्ष्मता को उलांघ कर स्कन्ध बनाते हुए उन्हें स्थूलता की सड़क पर आ जाना पड़ता है और पुद्गल का सम्बन्ध जब जीव के साथ होता है तो पुद्गल को शरीर एवं जीव को उसका शरीरी होकर रहना पड़ता है।

एकोन्यत: सम्मिलतीति यावद्वैभाविकी शक्तिरूदेति तावत्।
तयोरथैकाकिताऽन्वये तु, शक्तिः पुनः सा खलु मौनमेतु॥१३॥

अन्वयार्थः- (यावत् एक: अन्यत: सम्मिलति) जब तक एक दूसरे से मिले रहते है (तावत् तयो:, अन्वये वैभाविकी शक्ति: उदेति) तब तक उनके (जीव और पुद्गल के) मिले रहने पर दोनों में एक वैभाविकी नाम की शक्ति कार्यशील रहती है। (अथ पुन: एकाकितया तु सा शक्ति: खलु मौनमेतु) फिर उनके पृथक-पृथक एकाकी रह जाने पर वह शक्ति निष्क्रिय हो जाती है॥१३॥

अर्थः- अर्थात् जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य इन दोनों में एक वैभाविकी नाम की शक्ति है। दूसरे से मिलने पर उसके प्रभाव को आप स्वीकार करना एवं अपना प्रभाव उस पर दिखाना यही उसका लक्षण है, जो कि एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध बना रहता है तब तक तो अपना कार्य करती है परन्तु दोनों के पृथक्-पृथक् हो जाने पर यह चुप हो बैठती है। पेंशन प्राप्त कर्मचारी के समान बेकार हो लेती है। जैसे

आकाश में जगह देने का गुण है किन्तु अलोकाकाश में जब कोई द्रव्य ही दूसरा नहीं तो किसे जगह दे? अतः उसका कार्य वहां पर गौण है। वैसे ही वैभाविकी शक्ति भी दूसरे से सम्बन्ध होने पर अपना कार्य करती है वरना वह चुप रहती है। हमारी सरकार में दो प्रकार के कर्मचारी हैं- एक तो सदा कार्य करने वाले और दूसरे आवश्यकता पर अपना कार्य दिखलाने वाले। वैसे ही वस्तु में भी दो तरह की शक्तियों होती हैं- एक तो स्फुटा, दूसरी विस्फुटा। स्फुटा शक्ति का कार्य निरन्तर चालू रहता है किन्तु विस्फुटा शक्ति अपने समय पर काम करती है जैसे आत्मा की चेतना शक्ति हर समय अपना कार्य करती रहती है परन्तु आत्मा ही की जो क्रियावती शक्ति है, स्थान से स्थानांतर होने रूप जो ताकत है, वह सिद्ध अवस्था में सिद्धालय में जाकर विराजमान हो जाने के बाद अपना कार्य नहीं करती। वैसे ही वैभाविकी शक्ति भी है, दूसरे के साथ मेल होने में उसका कार्य चालू होता है। -अस्तु

पुद्गल के साथ में आत्मा का सम्बन्ध होने से क्या बात हो रही है सो बताते हैं-

अदृश्यभावेन निजस्य जन्तुः, दृश्ये शरीरे निजवेदनन्तु।
दधत्तदुद्योतनकेऽनुरज्य विरज्यतेऽन्यत्रधिया विभज्य ॥१४॥

अन्वयार्थः- (अदृश्यभावेन अयं निजस्य शरीरे निजवेदनं तु दधत्) आत्मा के अदृश्य होने के कारण यह अपने शरीर में ही अपना वेदन करता हुआ अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानता हुआ (तदुद्योतन के अनुरज्य) शरीर के अनुकूल साधनों में रंजित होकर (अन्यत्र धिया विभज्य विरज्यते) और प्रतिकूल साधनों से बुद्धि पूर्वक द्वेष कर विरक्त होता है, पलायन करता है ॥१४॥

अर्थः- अर्थात् दृश्य नाम दीखने या देखने योग्य तथा दिखलाने योग्य का दुनियां की सारी चीजें दृश्य हैं और आत्मा अदृश्य है। आत्मा द्रष्टा है, देखनेवाला है और सब चीजें उसके द्वारा देखने लायक हैं, अथवा आत्मा तो दर्शक है, दिखलाने वाला और यह सब ठाठ दृश्य। मतलब आत्मा एक प्रकार से नटवा है, स्वाङ्गी है

और यह संसार नाटक घर, जिसमें नाना प्रकार के स्वाङ्ग भरकर (धारण कर) वह स्वाङ्गी नृत्य करता है। रंगस्थल में स्वांग भरकर नाचने वाला जैसे स्वांग के लिये नाचता है तो भोला बालक उसमें छिपे व्यक्ति को नहीं पहचान कर राजा के स्वांग में उसे राजा और रंक के स्वांग में उसे रंक मानता है, वैसे ही दुनियादारी का प्राणी उस शरीर धारी को उस शरीरमय ही मानता है, आत्मा अदृश्य होने से उस तक इसका विचार नहीं पहुँचता अथवा यों समझो कि नाटकस्थल में उस नाटक का अधिपति किसी को राजा का स्वांग भरा देवे तो वह बड़ा खुश होवे कि देखो- मैं राजा बन गया और अभिनय समाप्त होने पर थोड़ी देर मे उसके उस स्वांग को वापिस उतारने लगे तो वह रोने लगे कि हाय! मैं राजा बन गया था सो अब राजा से रंक बनाया जा रहा हूं तो यह उसकी भूल है; वैसे ही संसारी जीव कर्मोदय से प्राप्त हुए अपने शरीर को ही अपना रूप मान रहा है, अत: इसकी बुद्धि में इस शरीर के लिये जो अनुकूल साधन है उनको देखकर तो राजी होता है, उन्हें बनाये रखना चाहता है एवं शरीर के प्रतिकूल पड़ने वाली बातों से द्वेष करके उनसे दूर भागता है। स्वादिष्ट व पौष्टिक पदार्थ खाना चाहता है, मिल जावे तो अपने को भाग्यशाली समझता है। रूखी-सूखी जौ कि रोटी मिले तो देखकर रोने लगता है। मखमल के गद्दे पर लेट लगाकर खुश होता है, कंकरीली जमीन पर बैठने में कष्ट अनुभव करता है। सुगन्धित तेल को बड़े चाव से शरीर पर मलता है मगर मिट्टी के तेल को छूने से ही डरता है। जिससे शरीर आरामशील बने ऐसी बातों के सुनने मे तल्लीन रहकर उनके सुनाने, सिखाने वाले को मित्र मानकर, उसे देखकर ही प्रसन्न होता है, उपवास वगैरह श्रमशील बातों को सुनकर ही घबराता है और ऐसा करने के लिये कहने वाले को शत्रु समझ रूष्ट होता है। शरीर की उत्पत्ति को अपना जन्म मानकर अगर कोई पूछता है कि तुम कितने बड़े हो तो कहता है कि मैं पच्चीस वर्ष का हो गया हूं एवं शरीर के नाश को ही अपना मरण मानकर उसका नाम सुनते ही भयभीत होता है; इत्यादि रूप से अपने विचार में शरीरमय हो रहा है।

कदापि माणिक्यमिवाभिधर्म, सत्संगतंस्वं खलु यानि नर्म।
उदंति चैतत्पयसोऽस्तुमस्तु, यतो विकृत्याश्रियतेऽत्रवस्तु॥१५॥

अन्वयार्थः- (कदापि चैतत् उदेति) कभी- कभी ऐसा भी विचार आता है कि (भर्म अभि सत्संगतं माणिक्यमिव खलु स्वं नर्म यानि) संत्संगति के अभिमुख हो लूं ताकि सुवर्ण के साथ में लगे हुए माणिक्य के समान मुझे शोभा प्राप्त हो जावे। (पयसो मस्तु अस्तु यतः अत्र विकृत्याध्रियते वस्तु।) इस प्रकार का विचार कर भी वह जीव दूध के बने दही के समान विकार को ही धारणा किये हुए है अर्थात् वह संसारी आत्मा शरीर के स्नेह में ही डूबा है॥१५॥

अर्थः- अर्थात् कभी-कभी ऐसा भी विचार आता है कि अहो खाना-पीना, सोना-उठना इत्यादि कार्य तो सभी करते है; मैने भी ऐसा किया तो क्या किया, मुझे कुछ भलाई का कार्य भी करना चाहिए ताकि सत्संग में आ जाने से सुवर्ण के साथ में लगे हुए माणिक्य के समान दुनियां में मेरी शोभा हो जावे। सन्त-महन्तो के कहने से यह भी समझा कि आत्मा से शरीर भिन्न है, जड़ है, विनाशीक है; आत्मा इससे भिन्न प्रकार है। अतः इस शरीर से कुछ परोपकार कर लूँ, यह नर शरीर जो दुर्लभता से प्राप्त हुआ है उसे बेकार न खोऊँ; इस प्रकार अशुभ भाव को छोड़कर शुभ भाव पर भी आया परन्तु अन्तरंग मे शरीर के साथ लगाव बना ही रहा, यहां तक नहीं पहुंच पाया कि वस्तुतः कौन किसी का क्या कर सकता है?

भगवान् ऋषभदेव की वाणी मे सदुपदेश हुआ जिसे सुनकर कच्छादि राजा लोग तो अपनी पात्रता के अनुसार सीधे रास्ते पर आ गये फिर भी उन्हीं ऋषभदेव भगवान का पोता मारीच उसी दिव्यध्वनि को सुनकर प्रत्युत उलटे मार्ग पर चलने लगा।

किसी का सम्बन्ध भी किसी के साथ क्या चीज है, देखो-एक जंगल में चार तरफ से चार मुसाफिर भिन्न-भिन्न घर के आ मिल सो यावज्जंगल मे रहे तब तक एक दूसरे को अपना साथी कहते है, जंगल से पार हुए कि सब भिन्न-भिन्न होकर अपने-अपने घर में जा घुसते है। बस, इस प्रकार कुटुम्बीजन का या एक दूसरे पदार्थ का भी संयोग है जो कि अतात्त्विक या क्षणिक है। इस 'मेरा' कहलाने वाले शरीर का भी मेरे साथ वैसा ही सम्बन्ध है। जब तक है तब तक है, अन्त में तो यह

अपने रास्ते और मैं अपने रास्ते जाने वाला हूं, फिर मैं क्यों इस उलझन में पड़ूं कि शरीर मेरा है। नहीं, मैं तो मैं ही मेरा हूं, एकाकी हूं। इस प्रकार के निर्द्वन्द्व भाव को जो जीव अपना लेता है, अन्तरंग से स्वीकार कर लेता है, वह समता में आ जाता है। फिर उसके लिये अपना पराया कोई कुछ नहीं। न तो कोई मित्र, न ही कोई शत्रु। न कोई सहायक और न कोई कुछ बिगाड़ करने वाला ही। वह तो सदा शुद्ध सच्चिदानन्द भाव में मग्न ही रहता है। सहजरूप में परिणमनशील हो लेता है। बाकी यह बात उपर्युक्त संसारी जीव में कहां है? वह तो दूध के बने दही के समान विकार को स्वीकार किये हुए हैं, अपने आपको खोकर और से और बना हुआ है। शरीर को ही आत्मा मानकर अहंकार में फंसा हुआ है और अगर कहीं उसे दबा पाया; शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न भी समझ पाया तो भी शरीर को अपना जरूर मानता है। अपनी बुद्धि में शरीर के साथ हाने वाले सम्बन्ध का विच्छेद नहीं कर पाता। यह जीव बिलोये गये दही के समान है, जैसे कि बिलोये हुए दही-मस्तु में से भी उसका मक्खन पृथक नहीं हुआ है, उसी में पड़ा है वैसे ही यह भी शरीर के स्नेह को लिये हुए है, ममता में डूब रहा है, समता से बिल्कुल दूर है। यही इसकी भूल है जो अनर्थ का मूल है।

अहन्तवमेतस्य ममत्वमेतत्मिथ्यात्वनामानुदधत्तथेतः।
बन्धस्य हेतुत्वमुपैत्यसौ योपालम्भिनश्चौर्यमिवात्र दस्योः ॥१६॥

अन्वयार्थः- (एतस्य अहन्त्वं ममत्वं च एतन्मिथ्यात्वनामा) इस संसारी जीव की यह अहन्ता और ममता ही मिथ्यात्व है। [(तद्) तथा अनुदधत् इतः असौ बन्धहेतुत्वम् उपैति,) उसके द्वारा धारण की जाने वाली यह ममता, यह मिथ्यात्व बुद्धि ही बन्ध के हेतुपने को प्राप्त होती है, अर्थात् यही बन्ध की कारण है। (अत्र उपालम्भिनः दस्योः चौर्यमिव) जैसे चोर के लिये चोरी ही उपालम्भ-मारपीट बन्धन, कष्ट का कारण है॥१६॥

अर्थः- अर्थात् इस संसारी प्राणी की उपर्युक्त अहन्ता और ममता करना ही इसका पागलपन है, भूल है, खोटापन या बिगाड़ है, इसको आगम भाषा

में मोह या मिथ्यात्व कहा है। अथवा यों कहो कि शरीरादिकों में अहंकार-ममकार लिये हुए है, पर-वस्तुओं को हथियाये (जबरन अपनाये) हुए है-यही इसका मिथ्यात्व है, चोरपना है। पर-वस्तुओं को अपनाने वाला चोर होता है। वह जहां भी दिखाई दे जाता है, उसे जो कोई भी देखता है, पकड़कर बांधता है, मारता, पीटता कष्ट दे जाता है, और उस चोर को यह सब सहना पड़ता है क्योंकि वह अपराधी है; उसने अपराध किया है इसलिये दब्बू बना हुआ है। हर तरफ से और हर तरफ से वह चौकन्ना रहता है, डरता रहता है कि कोई मुझे देख न लेवे इत्यादि। वैसे ही यह संसारी आत्मा पर पदार्थों में मोह राग-द्वेष किये हुए है सो इसका यह अपराध ही इसके लिये बन्ध का कारण बन रहा है जिससे कि तीन लोक का प्रभु होते हुए भी दब्बू बन कर भयालु होते हुए बन्धन में बंधा हुआ है।

बन्ध चार प्रकार का माना गया है; सो बताते हैं -

स्थित्यानुभागेन पुनः प्रकृत्या, प्रदेशतस्तूर्यविधोविमत्या।
बन्धः स चैतस्यसमस्तिरूपेयतोऽसकौ संपतितोऽककूपे ॥१७॥

अन्वयार्थः- (पुनः फिर स्थित्या, अनुभागेन, प्रकृत्या, प्रदेशतः) स्थिति, अनुभाग, प्रकृति और प्रदेशरूप से तूर्यविधः बन्धः चार प्रकार का बन्ध होता है। (विमत्या स बन्धः एतस्य रूपे समस्ति) विपरीत बुद्धि-मिथ्यामति के कारण वह बन्ध-कर्म-परमाणुओं का भार इस आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर पड़ता है (यतः असकौ अककूपे सम्पतितः) जिससे इसको कष्ट के कुए में गिरना पड़ता है॥१७॥

अर्थः- अर्थात् हर एक ही कैदी मुख्य रूप में चार तरह से विवश होकर रहता है।

१. उसके हाथ पैरों में हथकड़ी और बेड़ी होती है। २. उससे चक्की पिसवाई जाती है या दरी बुनवाई जाती है या सड़क खुदवाई जाती है इत्यादि। ३. उम्र कैद वगैरह के रूप में उसे लिया जाता है और ४. अन्धेरी कोठरी या उजाली कोठरी

तथा काला पानी आदि बोलकर उसे कैद किया जाया करता है। वैसे ही इस संसारी आत्मा के हर-एक प्रदेश पर कर्म परमाणुओं का बोझा आकर पड़ता है जिससे कि यह हथकड़ी बेड़ियों की तरह जकड़ा जाता है और जिसे प्रदेशबन्ध कहा गया है। यह आठ तरह की प्रकृति यानि स्वभाव वाला होता है। १.ज्ञानावरण (जो ज्ञान को न होने दे)। २.दर्शनावरण (जो देखने न दे); ३.वेदनीय' (जीव के सुख-दुःख का उत्पादक), ४.मोहनीय (जो भुलावे में डाले), ५.आयु (जो जन्म से लेकर मरण पर्यन्त शरीर में रोके हुए रखे), ६.नाम (जो काना, खोड़ा, कुबड़ा, बौना आदि नाम दशाएं करता रहे), ७.गोत्र (जो कभी उच्च तो कभी नीच कुल में जन्म दे), ८.अन्तराय (हर भले कार्य में रोड़ा अटकाया करे); ये आठ कर्म कहलाते हैं। इस आठ तरह के प्रकृतिबन्ध में जो काल की मर्यादा होती है वह स्थितिबन्ध में नाम से कही गई है। किसी समय का कोई कर्म अपना साधारण सा प्रभाव आत्मा पर दिखलाता है तो कोई जोरदार, इसको अनुभागबन्ध समझना चाहिये। इस प्रकार जो इस आत्मा के बन्ध पड़ता है, जिसकी वजह से इस जीव को कष्ट के गड्ढे में गिरना पड़ रहा है, उसका और खुलासा हाल यदि पाठकों को जानना हो तो गोम्मटसार वगैरह ग्रन्थों से जान सकते हैं हम यहां अधिक नहीं लिखते हैं।

जो करता है सो भोगता है; परन्तु जो बांधता है वह काट भी सकता है। वह कैसे ? सो बताते हैं -

विदारयेद्बन्धमुपात्तढंगः पनर्न पापाय कृतान्तरंग।
काराधिकाराद् भवतातिगस्यास्यस्यात् सुखं दुःखमथात्र न स्यात्॥१८॥

अन्वयार्थः- (उपात्तढंगः बन्धं विदारयेत्) समीचीन विधि का ज्ञायक जीव बन्ध का विदारण कर लेता है। (पुनः न पापाय कृतान्तरङ्ग) फिर पापों को करने की कारणभूत चेष्टा नहीं करता है। (काराधिकारात् भवतः) जहां कर्मों का ही जीव पर आधिपत्य है ऐसे इस संसार से (अतिगस्य अस्य सुखं स्यात्) अलग हुए इस जीव को मोक्षसुख प्राप्त होता है। अथ इसके बाद अत्र इस जीव में दुःखं न स्यात् दुःख नहीं हो सकता है॥१८॥

अर्थः- अर्थात् पहले बताया जा चुका है कि यह संसारी जीव कर्मों से बंधा हुआ है। वे कर्म विपाकान्त हैं। गेहूं आदि की खेती की भांति अपना फल दे देने पर नष्ट हो जाने वाले होते हैं परन्तु पूर्वकृत कर्म यावत् अपना पूरा फल नहीं दे पाता है उसके पहले ही से यह जीव दूसरा कर्म खड़ा किये हुए रहता है; जैसे मान लो कि एक किसान के पास सौ बीघा जमीन है। उसमें से कुछ जमीन में तो उसने ज्वार, बाजरी और कुछ में उड़द-मूंग बो दिये। सो ज्वार-बाजरी आसोज में तैयार हो गई, उसे काटकर उस जमीन में उसने गेहूं-चने बो दिये परन्तु उड़द-मूंग उधर खड़े हैं सो वे पौष में तैयार हुए। उन्हें काटकर वहां पर उसने गन्ना लगा दिया। उधर गेहूं खड़े हैं सो वैसाख में जाकर तैयार हुए। उन्हें काटकर फिर खेत में ज्वार-बाजरी बो दी। ईख खड़ी है उसे मंगसिर में काट कर उस जमीन में मटर बो दी जायेगी। इस प्रकार चक्कर चलता रहता है। किसान खेती से शून्य नहीं रहता। इसी प्रकार संसारी जीव भी एक के बाद एक कर्म निरन्तर करता ही रहता है और उसके फल पाता रहता है, निष्कर्मा नहीं हो पाता। परन्तु यदि वह किसान चाहे कि मुझे तो अब किसान नहीं रहना है, मुझे तो मेरी उस जमीन में जो कि रत्नों की खान है, उसका पता लग गया है, अत: अब मुझे खेती का क्या करना है तो वह अपने खेती के प्रलोभन का संवरण करके आगे के लिये उसमें बीज न बोवे और जो कुछ खेती खड़ी है, उसे पकने के पूर्व ही अपने हाथों से घण्टों में उखाड़ फेंक देवे और खान खोदकर निकाल ले तो रत्नाधिपति बन सकता है।

वैसे ही यदि संसारी आत्मा भी यह समझ ले कि मेरी आत्मा तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय का भण्डार है, सच्चिदानन्दरूप है, मुझे अब इस दुनियादारी में फंसे रहकर पापारम्भ करने की क्या जरूरत है, तो फिर अपने मन का निग्रह करके आगे के लिये कर्म का बन्ध करने वाली कषायों को पैदा नहीं होने देवे ओर उसके साथ-साथ शरीर तथा वचन को भी अपने वश में करके अपने पहले के बंधे हुए कर्मों को भी क्षण भर में काट सकता है और दीन-हीन से तीन लोक के प्रभुत्व के सिंहासन पर बात की बात में आसीन और प्रवीण बन सकता है। इस तरह आत्मा से परमात्मा हो सकता है।

अहो! देखो, इस आत्मा के बल की अचिन्त्य महिमा जो कि अपने आपे में आकर उस पर जम रहे चिरसंचित कर्मों के अभेद्य किले को एक अन्तर्मुहूर्त में ही तोड़-फोंड़ कर स्वतन्त्र सम्राट बन जाता है। दुनियादारी का खाना-पीना वगैरह कोई सीधा से सीधा काम भी क्या इतना शीघ्र सम्पन्न हो सकता है जितना कि स्वरूपोपलब्धि का काम? फिर भी यह भोला प्राणी अपने इस सहज काम को ठीक न मानकर बाहर से श्रमदायक कार्यों को ही सरल समझ बैठा है; यही तो उसकी नादानी है। इसी से परतन्त्रता में जकड़ा हुआ है। यदि अपनी समझ को ठीक कर ले तो फिर इस जन्म-मरणदि के दु:ख से छूटकर सदा के लिये पूर्ण सुखी बन सकता है। अस्तु।

चेतनागुण के धारक इस आत्मा का नाम जीव, इससे विपरीत स्वभाव वाला अजीव, जीव की अजीव के साथ अपनेश (अपनत्व) का नाम आस्रव, दोनों में मेल हो जाने का नाम बन्ध, जीव अजीव के साथ अपनत्व दिखलाना छोड़ दे, उसका नाम संवर, ताकि वह अजीव इस जीव से क्रमशः दूर होने लगे, उसका नाम निर्जरा, अजीव से जीव सर्वथा छुटकारा पा जाये, इसका नाम मोक्ष है। इस प्रकार ये सात तत्व कहलाते हैं। मतलब यह कि आत्मा को अपने भले के लिये इन सातों को जानना आवश्यक है।

मूलं सुधीन्द्राश्चिदचिद् द्वयन्तु, द्वयोरवस्था अपराः श्रयन्तु।
विदात्मकं चेतनपर्ययन्तद्वेधात्मकं पौद्गलिकं च सन्तः ॥१९॥

अन्वयार्थः- (चिद्-अचिद् द्वयं तु मूलं) जीव और अजीव ये दो तो मूलभूत तत्त्व हैं। (अपराः द्वयोः अवस्थाः इति सुधीन्द्राः श्रयन्तु) शेष पांच तत्त्व आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन दोनों- जीव, अजीव की संयोग-सापेक्ष अवस्थारूप है, ऐसा बुद्धिमानों को मानना चाहिए। (चिदात्मकं चेतनपर्ययं) भावतत्त्व तो संवेदनरूप चेतनपरिणाम है और (तद्वेधात्मकं च पौद्गलिकम् सन्तः) (प्रवदन्ति) उसके द्वारा संवेदन में लाने योग्य जो द्रव्यतत्त्व है, वे पुद्गल के परिणाम होते हैं; ऐसा सन्त कहते हैं ॥१९॥

अर्थ:- उन सातों तत्त्वों में से जीव और अजीव ये दो तो मूलभूत तत्त्व हैं; बाकी के पांच तत्त्व इन दोनों की सयोग सापेक्ष अवस्थारूप है, अत: ये पांचों द्रव्य और भाव के रूप से दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं।

भाव तत्व तो संवेदनरूप चेतन परिणाम और उसके द्वारा संवेदन में लाने योग्य जो द्रव्यतत्व हैं वह पुद्गल द्रव्य का परिणाम होता है, ऐसा सन्त पुरुष कहते हैं। जैसे-जीव के राग-द्वेषरूप परिणाम का नाम तो भावास्रव और उसके निमित्त से पुद्गल वर्गणाओं का कर्मरूप में परिणत हो जाना सो द्रव्यास्रव है। उन कर्मों में आत्मा को परतन्त्र बनाकर रखने रूप शक्ति का नाम द्रव्यबंध और उनके द्वारा आत्मा की परतन्त्र परिणति का नाम भावबंध है। शमदमाश्रित आत्मोपयोग का नाम भाव-संवर और उसके निमित्त से आगामी के लिए पुद्गल परमाणुओं के कर्मत्वरूप परिणमन में ह्रास आजाने का नाम द्रव्यसंवर है। क्रमश: आत्मिक शक्ति के विकास का नाम भावनिर्जरा और भूतपूर्व कर्मों की कर्मत्वशक्ति में ह्रास होते चले जाने का नाम द्रव्यनिर्जरा आत्मा का पूर्ण स्वतन्त्रता का नाम भावमोक्ष और उसके कार्मण स्कन्ध का पूर्णरूपेण अकर्मण्यता पर पहुंच जाना सो द्रव्यमोक्ष कहलाता है। यहाँ प्रसंगवश आत्मा और कर्म को ही बार-बार दोहराया गया है सो आत्मा तो चेतनायुक्त जीव द्रव्य को कहते हैं जैसा कि पहले बता चुके हैं। वे आत्मायें संख्या में अनन्त होकर भी एक प्रकार से तीन भागों में विभक्त हो सकती हैं-बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। जो शरीर को ही आत्मा समझ रहा हो, आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हो, वह जीव तो बहिरात्मा होता है। जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानता हो, शरीर में रहकर शरीर से अपने आपको भिन्न मानता हो, फिर भी शरीर से सम्पर्क लिये हुए हो, वह अन्तरात्मा होता है, परन्तु जो निरीहतापूर्वक शरीर से पृथक् होकर अशरीरी हो चुका हो, वह परमात्मा कहलाता है।

कर्म का विवेचन:- सामान्यत: उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि परिस्पन्दात्मक क्रिया को कर्म कहा जाता है, जो कि निरे अचेतन पदार्थ में भी होता है जैसे कि सूखा काष्ठ, ईंट वगैरह भी कभी अपने कारण-कलाप को पाकर इधर-उधर हो जाते हैं,

सो उससे तो यहां पर कोई प्रयोजन नहीं है तथा निरीह आत्मा की जो चेष्टा होती है जैसे कि मुक्त होते ही यह आत्मा ऊपर को गमन कर लोकान्त तक जाती है, उसको भी यहां नहीं लिया गया है। यहां तो इच्छावान् आत्मा की चेष्टा होकर उसके द्वारा जो सूक्ष्म पुद्गल परमाणु समूह उसके साथ मिल कर उसको दुःखी-सुखी बनाने में सहयोग कारक होते है, उनको कर्म कहा जाता है और उस आत्मा को उन सबका कर्त्ता। सो ही यहां बताते हैं -

इदं करोमि तु जीवनर्म, विकल्पबुद्धौ क्रियते च कर्म।
द्वयोरवस्थानृकलत्र-कल्पा, मिथः सदाधारकधार्यजल्पा ॥२०॥

अन्वयार्थः- (इदं करोमि इति तु जीव नर्म विकल्पबुद्धौ कर्म क्रियते) मैं यह करता हूं, मैं वह करता हूं इत्यादि निज विकल्पबुद्धि से जीव के द्वारा कर्म किए जाते हैं। (द्वयोः अवस्था नृकलत्रकल्पा) जीव और कर्म की यह अवस्था पति-पत्नी के संबंधों जैसी है। (मिथः सदा धारकधार्यजल्पा) जो सदा कर्म और जीव के बीच क्रमशः संग्राह्य और सग्राहक जैसा नाता है ॥२०॥

अर्थः- मैं खाता हूं, पीता हूं, सोता हूं, मारता हूं, काटता हूं, पीटता हूं इत्यादि विकल्प में पड़कर इस आत्मा का जो राग-द्वेषरूप परिणाम होता है, उसका करने वाला यदि वस्तु स्थिति पर विचार करके देखा जावे तो यह आत्मा ही है, दूसरा कोई भी नहीं है। यद्यपि बाह्य पदार्थ इसमें निमित्त जरूर बनता है फिर भी उस भाव के होने देने और न होने देने का उत्तरदायित्व इस जीवात्मा पर ही है जैसे मान लो कि एक प्रीतिभोज में एक साथ तीन आदमियों को कोई भोजन परोसा गया और उसके खाने की प्रेरणा भी की गई। उसको खाने के लिए उन तीनों का ध्यान भी वहां आकर्षित किया गया परन्तु उनमें से जो एक आदमी बुभुक्षित (भूखा) था वह तो रुचि से उसे खाने लगा। दूसरा जिसे अजीर्ण सा हो रहा था, उसने कुछ ना कुछ सा खाया परन्तु तीसरा जिसके उस पदार्थ को खाने का त्याग है तो अतिशयरूप से आग्रह करने पर भी उसने उसे बिलकुल भी नहीं खाया; भूख होने और भोजन सामने होने पर भी उसे खाने का भाव उसने नहीं किया। अतः मानना होगा कि अपने

परिणामों को खोटे और चोखे करनेवाला यह आत्मा ही है; जैसा कि श्री समयसारजी में भी लिखा है -

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स॥९८ ता.वृ॥

अर्थात् यह आत्मा अपने भाव को भला या बुरा आप बनाता है अत: यही उसका कर्त्ता और जो जैसा भाव इससे बनता है, वह भाव उसका कर्म यानी कार्य है। यह आत्मा जैसा भाव करता है उसी के अनुसार कर्मवर्गण कर्मरूप में आकर उसका साथ देती है अत: वे भी इसी की हुई यानी कर्म कहलाती हैं; क्योंकि भाव ओर भावी में अभेद होता है इसलिये जो जिसके भाव से हुआ वह उस भाववान से ही हुआ, ऐसा कहने में कोई दोष नहीं क्योंकि भाव से जो हुआ वह भाववान पर ही फलता है। इस प्रकार कर्म और जीव में परस्पर औरत तथा मर्द का सा नाता है। कर्म संग्राह्य है और जीव है सो संग्राहक होता है। किंच, औरत अगर भलेरी हो तो उसे मर्द के विचारानुसार चलना पड़ता है। मर्द को भी उसका ध्यान अवश्य रखना पड़ता है। देखो, श्रीपाल और मैनासुन्दरी के कथानक को। श्रीपाल ने मैनासुन्दरी से कहा कि मैं परदेश जाने का विचार करता हूं तो मैनासुन्दरी ने कहा कि मैं भी आपके साथ चलूंगी, आपकी सेवा करती रहूंगी परन्तु श्रीपाल ने कहा कि नहीं, तुमको यहीं रहना चाहिये ओर अम्बाजी की सेवा करनी चाहिये। मैं बारह वर्ष में वापस आकर तुम्हें संभाल लूंगा। मैनासुन्दरी को मानना पड़ा किन्तु श्रीपाल को भी उसका विचार मन में रखना पड़ा। बारह वर्ष होने में कुछ समय बाकी रहा तो अपने साथ वाले लोगों से कहा कि अब हमें हमारे देश चलना पड़ेगा क्योंकि मैनासुन्दरी से किए हुए वादे का दिन सन्निकट आ गया है। श्रीपाल ठीक समय पर वहां जा पहुंचे थे। वैसे ही जीव के परिणामानुसार कार्माण वर्गणाओं को परिणमन करना पड़ता है तो जीव को भी अपने किये कर्मके वश होकर चलना पड़ता है। जैसे कि श्री समयसारजी में लिखा हुआ है। देखो कतृ कर्माधिकार में -

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवो वि परिणमइ॥८६ ता० वृ०॥

शङ्का- आपके कहने का तो अर्थ होता है कि जीव अपनी जबरदस्ती से पुद्गल परमाणुओं को कर्मरूप बनाता है किन्तु समयसारजी में तो लिखा है कि जब जीव के परिणाम कषायरूप होते हैं उस समय पुद्गल परमाणु अपने आप ही कर्मरूप हो जाते हैं, जैसा कि -

जं कुणइ भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मतं परिणमदे, तह्मि सयं पुग्गलं दव्वं॥९८ ता.वृ.॥

इस गाथा में लिखा है कि आत्मा जिस भाव को करता है तब उसी भाव का कर्त्ता होता है। किन्तु उसके इस प्रकार विकारी होने पर पुद्गल द्रव्य अपने आप कर्मरूप में परिणमन कर जाता है। जैसे सूर्य उदय होता है उस समय कमल बन अपने आप ही खिल उठता है, वैसे ही जीव जब राग-द्वेषमय बनता हैं तो पुद्गल वर्गणायें भी स्वयमेव कर्मरूप बन जाती हैं। जीव वहां कुछ नहीं करता।

समाधान- जीव कुछ नहीं करता यह कैसे कहा ? वह अपने भावों को राग-द्वेषरूप तो करता ही है। उसी से कर्मवर्गणायें कर्मरूप बनती हैं। हाँ, जीव ऐसा नहीं करता कि मैं अपने इन रागद्वेष परिणामों से अमुक परमाणुओं को कर्मरूप करूं और अमुक को नहीं करूँ; परन्तु वहाँ जो अनेक जाति की पुद्गल वर्गणायें हैं, उनमें से जीव के राग-द्वेष से कर्मवर्गणाएँ ही स्वयं कर्मरूप में आ पाती हैं जैसे कि एक मंत्रसाधक भाई अपने स्थान पर बैठा-बैठा ही मंत्र का ध्यान करता है और जाप देता है। ऐसा विचार करके कि अमुक की कैद छूट जावे या अमुक का विष उतर जाये तो वह कैदी के पास जाकर उसकी कैद दूर नहीं करता परन्तु दूर बैठे ही उसके ध्यान के प्रभाव से अनेक कैदियों में से उसी कैदी की कैद स्वयं छूट जाती है। स्वयं शब्द का अर्थ इतना ही है जैसा कि इसी गाथा की टीका में अमृतचन्द्राचार्यजी ने बताया है। इसके बदले ऐसा अर्थ लगाना कि साधक के ध्यान ने कुछ नहीं किया, बिना उसके ध्यान के कैदी यों ही छूट गया तो यह गलत अर्थ है। वहां पर उसके ध्यान का पूरा प्रभाव होता है, वैसे ही कर्म-वर्गणाओं पर भी जीव के कषायभाव का प्रभाव होता है, ऐसा जैन सिद्धांत कहता है।

देखो, एक फोटोग्राफर अपने कैमरे में फोटो लेता है तो जो आदमी उस कैमरे के सामने जैसी अपनी चेष्टा बना कर बैठता है उस कैमरे में उसकी वैसी ही परछाई पड़ती है अतः वैसा ही उस कैमरे में फोटो आता है। वैसे ही यह जीव जैसे भी अपने कषायभाव करता है वैसा ही उसका प्रभाव कर्मवर्गणाओं पर पड़ता है अतः वैसी ही सुख-दुःख वगैरह देने की शक्ति उनमें आती है, ऐसी जैनदर्शन की मान्यता है।

शंका- आपके कथनानुसार तो एक द्रव्य अपने प्रभाव से दूसरे द्रव्य को चाहे जैसा भी बना सकता है। हमने तो सुना है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य में कुछ भी नहीं कर सकता।

समाधान- एक दूसरे को चाहे जैसा बना सकता है सो बात तो नहीं, परन्तु एक दूसरे के लिये किसी भी हालत में कोई कुछ भी नहीं करता, ऐसा भी जैनमत नहीं कहता। हमारे यहां तो कहा है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के गुणों को अपने प्रभाव से कभी नहीं बदल सकता जैसे कि जीव पुद्गल के साथ मिलकर उसको चेतन या रूपादिरहित कभी नहीं कर सकता तो पुद्गल भी जीव के साथ होकर उसको जड़ या रूपादिमान कर देवे सो नहीं हो सकता परन्तु एक दूसरे के प्रभाव में आकर उनका उचित विकाररूप परिणमन अवश्य होता है। जैसा कि समयसार जी में ही बतलाया है; देखो --

ण वि कुव्वइ कम्मगुणे, जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु, परिणामं जाण दोण्हंपि॥८७ ता०वृ०॥

जैसे अग्नि और हवा इन दोनों का परस्पर संयोग होता है तो हवा के द्वारा अग्नि प्रज्वलित होती है और वही अग्नि हवा को अपने संयोग से उष्ण बना देती हैं; यह इन दोनों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; वैसे ही पूर्व कर्म के उदय से जीव रागादिमान् होता है और उस जीव की रागादिमत्तासे ही आगे के लिये पुद्गल परमाणु कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।

शंका- तब तो फिर किसी की भी मुक्ति हो ही नहीं सकेगी, क्योंकि कर्मों का उदय तो सदा से सबके लगा ही हुआ है?

समाधान- कभी भी मुक्ति नहीं होगी सो नहीं, किन्तु जबतक यह जीव अज्ञानभाव को लिये हुए रहेगा तबतक मुक्ति नहीं होगी। यहां अज्ञान का अर्थ 'न जानना' नहीं है, क्योंकि न जानना तो किसी भी जीव में है ही नहीं; चाहे कोई थोड़ा-जाने या बहुत, ठीक जाने या गलत, जानता तो है ही। जानना तो जीव का लक्षण ही है, वह उससे दूर नहीं हो सकता परन्तु पर का अपना और अपने का पराया मानते रहने का नाम अज्ञान है और यह अज्ञान भाव जबतक इस जीव के साथ लगा रहेगा तबतक यह जीव कर्मबन्ध को करता ही रहेगा, जैसा कि श्री समयसारजी में ही लिखा है--

परमप्पाणं कुव्वं, अप्पाणं पि य परं किरंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो हादि॥५५ ता०वृ०॥

(अज्ञानमय यह संसारी जीव पर को अपनाता है और अपने आपको पर का बनाता है अत: यह कर्मों का कर्ता होता हैं।)

शङ्का- यह अज्ञान भी तो कर्मोदय से ही होता है, फिर कैसे मिटेगा?

समाधान- कर्मों का उदय दो तरह का होता है, एक अप्रशस्तोदय, दूसरा प्रशस्तोदय। सो जैसा उदय होता है वैसा बाह्य समागम होता है। अत: जब प्रशस्तादय हो और उससे सत्समागम हो तो उन सन्तों को अपने मान कर जैसा वे कहें कि भैया! यह संसार का ठाठ असार, क्षणिक है। यह शरीर भी जो कर्मोदय से आत्मा को प्राप्त हुआ है, चोले के समान इससे भिन्न है, नश्वर है; इसमें निवास करने वाला आत्माराम जिसने कि इसे धारण कर रखा है, भिन्न है, शाश्वत चेतनावान है। शरीर जड़ है, इस पर तुम्हें नहीं रीझना चाहिये। इस प्रकार के उनके कहने को मान ले तो मोक्षनगर की डगर पर आ सकता है। फिर मोक्ष सुलभ ही है, रास्ते पर लगा हुआ आदमी धीरे या कुछ देरी से स्थान पर पहुंच ही जाता है।

शंका- यह क्यों कहा कि उनके कहने को यदि वह मानले? जबकि उनके कहने को माननेरूप कर्म का उदय होगा तो वह मानेगा ही, क्यों नहीं?

उत्तर- मानना किसी कर्म के उदय से नहीं हुआ करता परन्तु यह तो उसकी रुचि का कार्य है। मान लो-एक आदमी के दो स्त्रियाँ हैं; एक सुमति और दूसरी दुर्मति, सुमति कहती है कि आप सुलफा,गांजा पीते हो सो अच्छा नहीं है, वह कलेजे को जलाता है और बुद्धि को बिगाड़ता है। यदि इसके बदले में आप दूध पिया करो तो अच्छा हो इत्यादि, तो उसके कहने का वह सुना-अनसुना कर देता है तथा उस स्त्री से दूर रहने की भी सोचता है। दूसरी स्त्री कहती है कि आदमी को नशा करना और मस्त रहना चाहिये। जो किसी भी तरह का नशा नहीं करता वह आदमी ही क्या! इत्यादि; तो उसके इस कहने को वह मन लगाकर सुनता है एवं उस स्त्री को भी भली भी समझता है। इसका कारण यही है कि उस आदमी की मानसिकवृति नशे की ओर झुकी हुई हैं। इसका कोई क्या करे, यह ता उसी के विचार का कार्य है। यदि वह चाहे तो सुमति के कहने को दिल से तोल सकता है कि ठीक तो कहती है यह। दूध पीने वाले लोग सब भले और चंगे हैं किन्तु मेरे पास आने वाले मेरे यार-दोस्त गंजेड़ी-भंगेड़ी लोग बातूनी और आततायी वगैरह हैं। ऐसा सोचे तो वह आगे के लिये नशा करना छोंड़ सकता है या उसे कम तो जरूर ही कर देता है, वैसी ही इस संसारी जीव की बात है।

यदि जीव चाहे तो सन्तों की बात पर गम्भीरता से विचार कर उसे हृदय में धारण कर ले ताकि उत्तर काल में उदय में आने वाले मोहनीय कर्मको कम से कम एक अन्तर्मुहर्त के लिय दबा दे, उदय में न आने दे, उसे सफल न होने देवे तो रागद्वेष रहित होकर कर्मबन्धन की श्रृङ्खला को तोड़ सकता है। अन्यथा तो फिर जहां कर्म का उदय होगा वहां जीव में रोग-द्वेष अवश्य पैदा करेगा और राग-द्वेष होंगे वे आगामी कर्मबन्ध जरूर करेंगे। बीज से वृक्ष और वृक्ष से फिर बीज इस प्रकार सन्तान चलती ही रहेगी। उसका कभी अभाव नहीं होगा। यही बात आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी अण्णोण्णणिमित्तेण दु, परिणामं जाग दोण्हंपि (गाथा ८७ ता०वृ०) गाथा

में बतलाये गये हैं; मतलब यह कि आचार्य श्री अपने इस वाक्य द्वारा निमित्तकारण की प्रबलता स्पष्ट कर दिखला गये हैं ओर बतला गये हैं कि निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता, निमित्त के द्वारा ही कार्य होता है।

सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान और चारित्र अपने मिथ्यापन को त्यागकर सम्यक् बन जाते हैं तथा सम्यग्दर्शन नष्ट होते ही ये दोनों वापस मिथ्या हो जाते हैं; ऐसा हमारे सभी आचार्यों ने बतलाया है। यह निमित्त की ही तो महिमा है; फिर भी कुछ लोग निमित्त न हो तो कार्य नही होता-ऐसा मानना मिथ्या है, इस प्रकार कहकर लोगों को चक्कर में डालना चाहते हैं यह कितना बड़ा दुस्साहस है; हम नहीं कह सकते।

हम देखते हैं कि अंधेरी कोठरी में दीपक जलते ही प्रकाश हो जाता है और उसके बुझते ही पुनः अंधेरा का अंधेरा ही रहता है। इसलिये जो अन्धेरे में काम न कर सकने वाला आदमी दीपक जलाकर अपना काम करता है, वह जानता है कि यहां पर दीपक के बिना अंधेरा नहीं मिट सकता, सो क्या यह गलत बात है? बलिहारी हो इसे मिथ्या बताने वालों की। छतरी तानत ही छाया होती है और उसे बंद करते ही वापिस घाम का घाम। दुनियां के सभी काम अपने-अपने निमित्त कारण के द्वारा होते हुए देखे जाते हैं। फिर भी ऐसा कहना कि छाया छतरी से नहीं, किन्तु वहां के उन परमाणुओं की योग्यता से ही होती है-वैसा ही हुआ जैसा कि ईश्वर-कर्तृत्ववादी लोग कहा करते हैं कि सृष्टि के सभी कार्य अपने कारण-कलाप से नहीं होते किन्तु ईश्वर के किये होते हैं। हमारे आचार्यों ने ही नही बल्कि सभी तर्कवादियों ने बताया है कि जो जिसके होने पर हो ही जावे और जिसके न होने पर जो न हो सके, इस प्रकार का अन्वयव्यतिरेक जिसका जिसके साथ हो, वह उसी का कार्य होता है।' जबकि जीव रागादिमान् होता है तो कर्म जरूर बंधते हैं ओर वीतराग होने पर कर्म नही बंधते; अतः रागादिमान् जीव ही कर्मों का कर्त्ता है और उसके कार्य हैं कर्म, यह ठीक बात है।

सर्व कर्म इस जीवात्मा के द्वारा दो दृष्टियों से किये जाते हैं, अतः कर्म दो प्रकार के होते हैं --

पापं तु देहात्मतया क्रियेत, पुण्यं तदन्तर्गतया श्रियेत।
अज्ञानसंचेतनिकेतिवृत्तिरूपर्यतोज्ञानमयीप्रवृत्तिः ।।२१।।

अन्वयार्थः- (देहात्मतया तु पापं क्रियेत्) शरीर और आत्मा को एकमेक मानते हुए बहिरात्मा के द्वारा तो पाप ही किया जाता है। (तदन्तर्गतया पुण्यं श्रियेत) शरीर से आत्मा को भिन्न मानते हुए अन्तरात्मा के द्वारा किया हुआ कर्म पुण्य कर्म होता है (अज्ञानसंचेतनिकेतिवृत्तिः) (ये दोनों चेष्टायें परावलम्ब को लिये हुए होती है) अतः अज्ञानचेतनामयी होती हैं (अतः उपरि ज्ञानमयी प्रवृतिः) इससे ऊपर (पाप पुण्य से परे प्रवृति) ज्ञानमयी प्रवृत्ति या ज्ञानचेतना होती है ।।२१।।

अर्थः- अर्थात्-यद्यपि हमारे यहां कर्म शब्द से उन सूक्ष्म पुद्‌गल परमाणुओं को कहा जाता है जो जीव के रागद्वेष भावों के द्वारा जीव के साथ एकमेक होकर रहते हों परन्तु उनका समागम जीव के साथ इसकी मन, वचन और कार्य की चेष्टा के द्वारा ही होता है अतः कारण में कार्य का उपचार करके उस चेष्टा को भी कर्म कह सकते हैं और उसके करने में इस आत्मा की दो तरह की भावना हुआ करती है--

एक तो शरीर को और आत्मा को एकमेक मानते हुए बहिरात्मापन के द्वारा जैसे कि मैं खा लूँ, पी लूँ, सो लूँ एवं अपने आपको मोटाताजा बना लूँ इत्यादि रूप में। दूसरी वह जो शरीर से आत्मा को भिन्न मानते हुए अपने भले के लिए, जैसे--भगवान का भजन कर लूं, गुरुओं की सेवा कर लूं, व्रत उपवास कर लूं, इत्यादि रूप में। पहले वाली वासना से किया हुआ कर्म पापकर्म कहलाता है क्योंकि वह इस आत्मा का संसार में ही पछाड़े हुए रहता है किन्तु दूसरी वासना से किया हुआ कर्म इसको पवित्रता की ओर ले जाने वाला होने से पुण्य कर्म होता है।

कभी-कभी बहिरात्मा जीव भी ईश्वरोपासना सरीखी चेष्टा किया करता है, परन्तु वह उसकी चेष्टा अनात्मवृति को ही लिये हुए होती है अतः वह अपुण्य कहलाता है। इसी प्रकार अन्तरात्मा जीव भी कभी कहीं खाना-पीना वगैरह शरीरानुविधायि कार्य

करता है किन्तु वह अनतिवृत्तितया नरकादि का कारण न होने से अपापकर्म कहलाता है। स्पष्टरूप में चतुर्थ गुणस्थान से नीचे वाले की चेष्टा का नाम पाप और उससे ऊपर जहां तक सराग चेष्टा रहे उसका नाम पुण्य है, ऐसा समझना चाहिये एवं ये दोनों ही प्रकार की चेष्टायें परावलम्ब को लिये हुए होती हैं अत: अज्ञान चेतनामयी होती है क्योंकि इन दोनों से ही-अधिक हो या हीन किन्तु ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का बन्ध इस जीव के होता ही रहता है। हां, इससे ऊपर चलकर जहां पर पापबन्ध और पुण्यबन्ध दोनों प्रकार के बन्ध को करने वाले अशुभ एवं शुभ दोनों तरह के भाव से बिलकुल रहित पूर्ण वीतराग दशा हो करके इस आत्मा की एकान्त आत्मनिमग्न वृत्ति हो लेती है, उसका नाम ज्ञान चेतना है। जैसा कि श्री अमृतचन्दसूरि समयसारकलश में लिखते हैं --

रागद्वेषविभावमुक्तमहसोनित्यं स्वभावस्पृश:,
पूर्वागामिसमस्त-कर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदवात्।
दूरारूढचरित्रवैभवबलां चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं,
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य सञ्चेतनां ॥२२३॥

भावार्थ:- जो सर्वथा राग-द्वेषरूप विभाव से रहित होकर स्वभाव को अखण्डरूप से प्राप्त कर चुके, भूत भावि और वर्तमानकालीन कर्मोदय से दूर हो लिये, समस्त परद्रव्य के त्याग स्वरूप दृढ़तर चारित्रके बल से प्रकाशमान चैतन्य ज्योतिवाली और अपने सहजभाव से विश्वभर में व्याप्त होने वाली ऐसी भगवती ज्ञानचेतना का वे ही अनुभव करते हैं, वे ही उसे पाते हैं। बाकी के उससे नीचे के जीव तो अज्ञान चेतना वाले होते हैं। वह अज्ञान चेतना-कर्मफलचेतना और कर्मचेतना के भेद से दो भागों में विभक्त होती है जिसमें से-

संचेत्यते यावदसंज्ञिकर्मफलं शरीरीपरिभिन्नमर्म।
यतो नहि ज्ञानविधायिकर्मकर्तुं तदा प्रोत्सहतेऽस्य नर्म ॥२२॥

अन्वयार्थ:- (परिभिन्नमर्म शरीरी यावत् असंज्ञि कर्मफलं संचेत्यते) निगोदिया एकेन्द्रिय जीव से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तो यह शरीरधारी कर्मफल ही भोगता

है। (कर्मफलचेतना) (यत: अस्य नर्म तदा ज्ञानविधायि कर्म कर्तुं न प्रोत्सहते)। कारण कि इस अवस्था में यह ज्ञानपूर्वक कोई कर्म करने के लिये उत्साहित नहीं हो पाता।

अर्थ:-अर्थात्- निगोदिया एकेन्द्रियजीव की अवस्था से लेकर असंज्ञी-पंचेद्रिय की अवस्था तक तो यह शरीरधारी जीव अपने किये हुए कर्मों के फल को ही भोगता रहता है। उस समय तो यह अपने मर्मभेदी कर्मों का सताया हुआ इतना बेहोश रहता है कि आत्म-कल्याण के मार्ग की ओर इसकी रूख (रूचि) ही नहीं हो पाती है। मैं भी एक जीव हूं, मुझे भी अपने आत्महित के लिये कुछ तो करना ही चाहिये, ऐसा विचार भी नहीं होता। जैसे कि एक नशेबाज आदमी अपने किये हुए नशे का सताया, बेकार होकर तड़फड़ाया करता है।

संज्ञित्वमासाद्य तदुद्गमस्तु, शरीरिणश्चात्महितैकवस्तु।
एकास्ति लब्धिर्दुरितस्यताहक् क्षयोपशांतिर्यत प्राप्य ताहक्॥२३॥

अन्वयार्थ:- (शारिरिण: तदुद्गमस्तु आत्महितैकवस्तु संज्ञित्वमासाद्य) (संभवति) देहधारी के कर्मचेतना का प्रादुर्भाव तो संज्ञीपन प्राप्त होने पर ही हो सकता है तभी आत्महितका विचार आता है। (एका दुरितस्य तादृक् क्षयोपशान्ति: लब्धि: अस्ति, प्राप्य यत: तादृक्) संज्ञीपन की प्राप्ति कर्मों के क्षयोपशशम से होती है, ऐसे क्षयोपशम का होना सो एक लब्धि है, जिसे पाकर ही आत्मा की अपने हित की तरफ दृष्टि होती है॥२३॥

अर्थ:-अर्थात्-जब उस नशे वाले का नशा कुछ हल्का पड़ता है तो वह विचारता है कि देखो! मैं कैसा पागल हो गया कि मुझे जो अमुक काम करना था, गैय्या के लिए घास काटकर लाना था या और कुछ करना था सो अभी तक नहीं हुआ, अब वह मुझे करना चाहिये इत्यादि। वैसे ही जब यह जीव संज्ञीपने को प्राप्त कर पाता है, इसके अन्तरङ्ग में कर्मचेतना का प्रादुर्भाव होता है, यह सोचता है कि मुझे यह भूख-प्यास क्यों लगती है? थकान क्यों होती है? जिससे मुझे बार-बार कष्ट उठाना पड़ता है; यह भी एक प्रकार का रोग ही है, तो क्या इसके मिटने का भी

कोई उपाय है; अगर है तो मैं वही करूं, इत्यादि कर्त्तव्य पर विचार आने का नाम कर्मचेतना है जो कि संज्ञीपन के होने पर ही हो सकता है और संज्ञीपन की प्राप्ति कर्मों के क्षयोपशम से होती है, अतः इसप्रकार के विशेष क्षयोपशम का होना सो एक लब्धि है। जिसके होने से इस आत्मा को अपने हित की तरफ दृष्टि हो सकती है।

गत्वा गुरोरन्तिकमेतदाज्ञां, लब्धा मयेयं महतोऽपि भाग्यात्।
सुधामिवेत्थं सपिपासुरस्तु, सम्यक्त्वहेतोः समुदायवस्तु॥२४॥

अन्वयार्थः- (गुरोः अन्तिकं गत्वा मयाइयं महतोऽपि भाग्यात् लब्धा) गुरू के समीप पहुंचकर (विचारता है कि) आज मेरे भाग्योदय से मुझे गुरू की देशना मिली है (पिपासुः सुधां इव एतदाज्ञां अस्तु)। प्यासे आदमी को अमृत-प्राप्ति की भांति मुझे यह गुरूदेशना प्राप्त हुई है। (इदं सम्यक्त्वहेतोः समुदायवस्तु) सम्यक्त्वोत्पत्ति के अनेक कारणों में से 'देशनालब्धि' भी एक प्रमुख कारण है॥२४॥

अर्थः- प्यासा आदमी कुए की भांति किसी सन्मार्गप्रदर्शक गुरू की खोज करता है एवं उसके पास पहुंचता है। उसकी जो कुछ देशना होती है, उसको बड़े ध्यान से सुनता है, विचारता है कि आज मेरा बड़ा ही भाग्योदय है जो मुझे इन सद्गुरू की वाणी सुनने को मिली, जैसे कि प्यासे को अमृत मिल जावे तो वह उसे पीता-पीता नही अघाता वैसे ही यह भी गुरू महाराज के सदुपदेश को रूचि के साथ ग्रहण किया करता है। इसका नाम है देशनालब्धि जो सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारणों में से एक परमावश्यक वस्तु है; अन्धकार को हटाने के लिये सूर्य की प्रभा के समान है।

शङ्का-क्या गुरू के बिना ज्ञान नहीं हो सकता? ज्ञान तो आत्मा का गुण है उसके लिये गुरू के होने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर- ठीक है, ज्ञान तो आत्मामें ही है परन्तु उसकी मिथ्यात्व से सम्यक्त्व अवस्था गुरू बिना नहीं हो सकती जैसे कि बन्द ताला चाबी के बिना नहीं खुल सकता, चाबी के द्वारा ही खोला जा सकता है।

शङ्का-श्री तत्त्वार्थसूत्रजी में बतलाया है कि (तन्निसर्गादधिगमाद्वा) अर्थात वह सम्यग्दर्शन गुरूपदेश से भी होता है और किसी को अपने आप भी।

उत्तर-उक्त सूत्र का अर्थ तो यह है कि वह सम्यग्दर्शन अपने स्वभाव से भी और गुरूपदेश से भी- इन दोनों ही बातों के हाने से होता है। दोनों में से एक भी न हो तो नहीं हो सकता।'

जैसे कि पक्षी, आदमी की बोली सिखाने से सीखता है किन्तु सिखाने से भी तोता ही सीख सकता है, बगुला नहीं सीख सकता, वैसे ही सम्यग्दर्शन होता है श्री गुरू की वाणी के सुनने से, किन्तु होता है आसन्न भव्य को, अभव्य को नहीं होता। देखो, श्री आदिपुराणजी के महाबल (वज्रजंघ) के जीव भोगभूमियां को सम्यग्दर्शन ग्रहण कराने के लिये श्री मुनिराज भोगभूमि में चलाकर गये थे; अगर अपने आप ही सम्यग्दर्शन हो जाता तो उन मुनि महाराज को वहां जाने की फिर क्या आवश्यकता थी?

शङ्का- हमारे शास्त्रों में बतलाया है कि स्वयंभूरमणद्वीप में होनेवाले तिर्यच भी पंचम गुणस्थानी हो जाते हैं; सो वहां गुरूसमागम कहां है? वहां सम्यग्दर्शन कैसे हुआ?

समाधानः-एक बार गुरूसमागम होने से जिसे सम्यग्दर्शन होकर छूट गया ऐसे सादि मिथ्यादृष्टि के लिये गुरू-समागम का अनिवार्य नियम नहीं है, एक बात तो यह है। दूसरी बात यह है कि मनुष्य तो नहीं किन्तु सम्यग्दृष्टि देव तो वहाँ जा सकते हैं, सो वे जाकर उन्हें सन्मार्ग का उपदेश देकर सम्यग्दर्शन ग्रहण करा सकते हैं। अन्यथा फिर उन्हें सम्यग्दर्शन की भांति ही श्रावक के बारह व्रतों का भी पता क्या और कैसे हो सकता है? यदि कहा जावे कि जातिस्मरण से पूर्व जन्म याद आकर हो सकता है तो फिर ठीक ही है, उन्हें उनके पूर्व जन्म के गुरू का उपदेश हो तो कारण हुआ।

शङ्का-यदि ऐसा मानें कि गुरू आए इसलिये श्रद्धा हुई तो गुरू कर्ता और शिष्य को श्रद्धा हुई, इसलिये यह उनका कार्य हुआ। इस प्रकार दो द्रव्यों के कर्ताकर्मपना

आ जावेगा। (वस्तुविज्ञानसार पृ. ३९)

समाधान:-दो द्रव्यों के कर्ता-कर्मपना आ जाएगा, इसमें क्या हानि होगी। हमारे आचार्यों ने तो निमित्त-नैमित्तिकरूप में एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता और उसको उसका कर्म तो माना ही है। देखो, कुन्दकुन्दाचार्य ने ही समयसारजी में लिखा है कि-

अण्णाणमओ भावो अण्णाणिणो कुणदि तेण कम्माणि। इति ॥१३५॥

सो श्रीमानजी। निमित्त के नाम से आपको क्या इतनी चिढ़ है, यह हम अभी तक नहीं समझ सके। हमारे आचार्यों ने तो विशेष कार्य को निमित्त विशेष के द्वारा ही निष्पन्न होता हुआ बतलाया है।

देशना प्राप्त करने के बाद यह जीव क्या करता है? सो बताते हैं-

कुतोजनिर्मृत्युरयं च कस्मात् स्याच्चापि मुक्तिर्मम दुःखतोऽस्मात्
एतादृगुत्साहिविचारदृब्धिरुदेति चित्तेऽस्य विशुद्धिलब्धिः ॥२५॥

अन्वयार्थः- (कस्मात् अयं जनिः) कहां से मेरा जन्म? (कुतश्च मृत्युः स्यात्) कहां मेरी मृत्यु होगी? (अस्मात् दुःखतः मम मुक्तिः) (कुतः स्यात्) इस जन्म-मरण के दुःख से मेरी मुक्ति कब होगी? (अस्यचित्ते) इसके चित में (एतादृक्) ऐसी (उत्साहिविचारदृब्धि) उत्साहपूर्ण वैचारिक कोमलता [उदेति (सा) विशुद्धिलब्धिः] उदित होती है वह विशुद्धिलब्धि है ॥२५॥

अर्थ-गुरूदेव की वाणी को अवधारण करने से उस भव्यात्मा के चित्त में इस प्रकार विचार होने लगता है कि अहो देखो! मैं सच्चिदानन्द होकर भी किस तरह से इस जन्म-मरण के चक्कर में फंस रहा हूं जैसे कि एक राजकुमार किसी भंगिन के साथ में लग जावे तो फिर उसके प्रेम के वश होकर उस राजकुमार को भी पाखाने की कोठरी में घुसना पड़ता है; वैसे ही कर्मसेना के साथ में मैं ही रहा हूं इसीलिए मुझे यह शरीर ग्रहण करना पड़ा है और जब वह भंगिन एक पाखाने से दूसरे पाखाने के लिए प्रस्थान करे तो वह राजकुमार सोचता है कि अब कहीं इससे भी अधिक

दुर्गन्धित जगह में न जाना पड़े, इस भय से वहां से निकलने को आगापीछा ताकने लगता है। वैसे ही अज्ञानी जीव भी इस शरीर को छोड़ना नहीं चाहता है और जब इस शरीर के छूटने की सुनता है तो कांपता है, इसी का नाम मरण है। यही जन्म-मरण का दुःख है जो इस जीव को भोगना पड़ रहा है। तो फिर इसका मतलब यह हुआ कि मैं यदि इस दुःख से मुक्त होना चाहता हूं तो कर्मचेष्टा से ही मुझे परे होना होगा, उसे ही तिलांजलि देनी होगी, तभी काम बनेगा। इसप्रकार की विचारधारा से जो इस भव्य जीव के चित्त में कोमलता आ जाती है, इसका नाम विशुद्धिलब्धि है। अनन्तर-

तेनामृतेनेवरुगस्तु पूर्वार्जितोविधिः शीतहतस्तरूर्वा।
स्थितिः किलान्तर्गत-कोटि-कोटिमीरप्रमाणप्यमुतोनमोटी॥२६॥
हीनोऽनुभागोऽपि भवेत्तदेति, प्रायोगिकालब्धिरसावुदेति।
अनेकवारं पुनरित्यथेष्टा समस्ति संसारिण एव चेष्टा॥२७॥

अन्वयार्थः- (तेन) (विशुद्धिबलेन) उस विशुद्धिबल से (अमृतेन रुग् इव) अमृत पीने से रोग के शमन के समान, (शीतहततरुः वा) (इव) अथवा पाले से विनष्ट वृक्ष के समान (पूर्वार्जितो विधिः अस्तु) पूर्वोपार्जित कर्म भी कमजोर हो जाते हैं (यथा) [स्थितिः किल अन्तर्गत कोटाकोटिमीर (सागर) प्रमाणा अपि अमुतः न मोटी (नाधिका)] अर्थात् (उनकी जो सत्तर को कोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण तक की स्थिति थी) वह घटकर अन्तःकोटाकोटिसागर प्रमाण से अधिक नहीं रहती॥२६॥

अन्वयार्थः- (तथा अनुभागः अपि हीनो भवेत्) वैसे ही अनुभाग भी कम हो जाता है। (इत्यसौ प्रायोगिका लब्धिः उदेति) यही प्रायोगिकालब्धि होती है। (अथ पुनः संसारिणः इयम् इव इष्टा चेष्टा) (यहां तक वर्णित) इस संसारी जीव की यह इष्ट चेष्टा (अनेकवारं समस्ति इति) अनेक बार हो जाती है॥२७॥

अर्थः- जैसे अमृत पीने से रोग उपशान्त हो जाता है या शीत का सताया वृक्ष खंखर हो जाया करता है वैसे ही उपर्युक्त विचार के द्वारा इस जीव के पूर्वोपार्जित

कर्म भी कमजोर बन जाते है; उनकी जो सत्तर कोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण तक की स्थिति थी वह घटकर अन्त: कोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण वाली रह जाती है और अनुभाग भी कम हो जाया करता है; उस समय आगे के लिये बंधने वाल कर्मों की स्थिति भी अन्त:कोड़ाकोड़ीसागर से अधिक नहीं होती। बस ऐसी परिस्थिति का नाम ही (प्रायोगिकालब्धि) है। यहां तक वर्णित चेष्टा तो इस संसारी जीव की अभव्य तक की भी अनेक बार हो जाया करती है परन्तु सम्यक्त्व प्राप्ति नहीं हो पाती। क्योंकि यह सब सम्यक्त्व-प्राप्ति के लिए अविकल कारण न होकर विकल कारण है। इन सबके साथ-साथ कुछ और बात भी है जिसका होना सम्यक्त्वोत्पत्ति के लिये जरूरी है; उसका निर्देश आगे किया जा रहा है --

चेत्पुद्गलार्द्धः परिवर्तकालोऽवशिष्यतेऽनादितयाशयालोः।
तदा चतुर्लब्धियुजो जनस्य, क्षणो भवेज्जागरणाय शस्यः ॥२८॥

अन्वयार्थः- [अनादितया शयालोः चेत् (यदि) पुद्गलार्द्ध-परिवर्तकालः अवशिष्यते (इयं काल-लब्धिः)] अनादिकाल से मोहनिद्रा में सोये हुए इस जीव के यदि अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल शेष रहता है तो (यह एक काललब्धि हुई) (तदा पूर्वोक्त-) (चतुर्लब्धियुजो जनस्य जागरणायः शस्यः क्षणो भवेत्)। उस समय अर्थात् उस पूर्वोक्त काललब्धि के होने पर उपर्युक्त चार लब्धियों युक्त जन (मनुष्य) के जागने का-अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त करने योग्य प्रशंसनीय क्षण होता है॥२८॥

अर्थः- अर्द्धपुद्गल परिवर्तन-यह जैनागम समस्त एक पारिभाषिक शब्द है। यह कालविशेष का नाम है जिसमें असंख्यात कल्पकाल बीत जाते हैं। बीसकोड़ाकोड़ीसागर का एक कल्पकाल होता है। दो हजार कोस गहरे और दो हजार कोस चौड़े लम्बे गड्ढे में कैंची से जिनका दूसरा भाग न हो सके ऐसे बालों को (मेढ़े के) भरना; जितने वाल उसमें समावें, उसमें से सौ वर्ष बीतने पर एक-एक बाल निकालना, जितने समय में वे सब निकल चुकें उतने काल को व्यवहार पल्य कहते हैं। व्यवहार पल्य से असंख्यात गुणा उद्धारपल्य और उद्धारपल्य से असंख्यात गुणा अद्धारपल्य होता है। दस कोड़ाकोड़ी पल्यों का एक सागर होता है। ऐसा जैन सिद्धांत प्रवेशिका में

लिखा है। अस्तु।

मुमुक्ष के संसार-परिभ्रमण में से जब यह अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल बाकी रहता है-जो कि उसके भूतपूर्व परिभ्रमणरूप समुद्र की एक बूंद समान है-तब यह अनादिकाल का मोहनिद्रा में सोया हुआ संसारी जीव जगाया हुआ जाग सकता है, इसी का नाम काललब्धि है। इस काललब्धि के होने पर उपर्युक्त चार लब्धियाँ प्राप्त करके यह जीव सम्यक्त्व ग्रहण के योग्य होता है। और नहीं तो फिर, जिसका जिस समय मोक्ष होना है उससे एक मुहूर्त पहले भी मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी बनकर कर्मनाश कर वह सिद्ध हो जाता है।

शंङ्का- तब तो फिर समय का ही मूल्य रहा, आत्मा के पुरुषार्थ या उपर्युक्त चार लब्धियों के होने की क्या आवश्यकता है?

समाधान- जिस समय भी जिस किसी को मुक्ति प्राप्त होगी वह उससे पहले उपर्युक्त लब्धियों की सहायता से अपने पौरुष को व्यक्त करते हुए सम्यक्त्व लाभ कर क्रमश: उपयोग को निर्मल बनायेगा। जैसे-मान लो कि दस जीव एक साथ मुक्ति पाने वाले हैं। वे दसों ही सौ-सौ वर्ष की अनपवर्त्य आयु लेकर एक साथ ही मनुष्य का जन्म भी ले चुके हैं। उन्होंने पहले कहीं सम्यक्त्व भी प्राप्त नहीं किया है, तो अब जब तक वे आठ वर्ष के नहीं होंगे तब तक न तो सम्यक्त्व ही प्राप्त कर सकेंगे और न मुनि ही बन सकेंगे परन्तु आठवां वर्ष पूर्ण होते ही उनमें से एक तो गुरु के पास पहुंच कर, उनके उपदेश-लाभ से सम्यग्दर्शन ग्रहण करके संयमी मुनि बन कर कुछ देर बाद क्षपकश्रेणी मांड कर, घातियाकर्मों का नाश कर केवल ज्ञानी बन जाता है; दूसरा उसी समय या उसके कुछ समय बाद सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मुनि तो बन जाता है परन्तु केवल ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता, कुछ वर्षों बाद केवली बनता है। तीसरा सम्यग्दर्शन को तो प्राप्त कर लेता है किन्तु युवावस्था तक गृहस्थावस्था में राजपाट भोगकर फिर मुनि बनता है और मुनि बनने के अनन्तर ही केवली भी बन जाता है। चौथा सम्यग्दृष्टि बनकर कुछ दिन के बाद कुमार्गरत हो जाता है मगर फिर सुधर कर मुनि बन जाता है एवं केवली बनकर मोक्ष पाता है। पांचवां गृहस्थदशा

में तो सम्यग्दृष्टि सुशील रहता है किन्तु मुनि होने के बाद में भ्रष्ट हो जाता है सो जाकर अन्त में सुलग पाता है। छठा अन्त समय तक सद्गृहस्थ रहकर ठीक अन्त समय में मुनि बनता है और केवलज्ञानी। सातवां अन्त समय तक भी व्यसनों में फंसा रह कर सिर्फ मरण के एक मुहूर्त पहले सम्यग्दृष्टि और मुनि बन कर केवली भी तभी बन जाता है। इत्यादिरूप से उनमें जो विचित्रता होती है, वह उनकी इतर लब्धियों की विशेषता और पुरुषार्थ विशेष के ही तो कारण होती है।

काललब्धि, क्षयोपशमलब्धि, देशनालब्धि, विशुद्धिलब्धि और प्रयोग्यलब्धि को प्राप्त करके जब यह जीव सम्यक्त्व के सम्मुख होता है, तब क्या होता है; सो बताते है-

सूर्योदयात्पूर्वमिव प्रभातः, सम्यक्त्वतः प्रक्करणाख्यतोऽतः।
प्रवर्तते तेन तमोहतिर्वऽतोऽन्तर्मुहूर्तात्तिदहस्पतिर्वा ॥२९॥

अन्वयार्थः- (सूर्योदयात् पूर्व प्रभात इव) सूर्योदय से पहले प्रभात (अन्धकार फटना) होने की तरह (सम्यक्त्वतः प्राक् करणाख्यता) सम्यक्त्व से पूर्व करणलब्धि होती है। (अतः तेन तमोहतिः वा) (इव तमोहतिः) फिर (तदनन्तर) उससे तमोहतिअज्ञानतिमिर का नाश होता है [अतः अन्तर्मुहूर्तात् अहस्पतिः (सूर्यः) वा (इव) तत् (सम्यक्त्वं) प्रवर्तते] और उसके बाद अन्तर्मुहूर्त से अहस्पति (सूर्य) की तरह वह सम्यक्त्व प्रवृत (प्रकट) होता है॥२९॥

अर्थः- जब सूर्योदय होने वाला होता है तो उससे पहले प्रभात होकर उससे अन्धकार फटता है, फिर सूर्य प्रकट होता है; वैसे ही सम्यक्त्व होने से पहले इस आत्मा का कर्ण नामका प्रक्रम शुरू होता है जिससे कि मिथ्यात्व मोहकर्म का नाश होकर सम्यक्त्व प्रगट होता है। वह कारण तीन तरह से होता है- अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण- जिससे आत्मा निर्मल, निर्मलतर और निर्मलतम होती है, जैसे किसी भी मैले कपड़े को पानी से गीला करके धोया जाता है तो उसके ऊपर का कुछ मैल निकल जाता है, फिर साबुन लगाकर धोने से वह बिल्कुल स्वच्छ हो जाया

करता है।

याद रहे कि मोहकर्म को दर्शनमोह और चारित्रमोह के भेद से दो भागों में बांटा गया है और दोनो ही तरह के मोह का नाश होने से स्पष्ट सम्यक्त्व-पूरा खरापन हो पाता है और दोनों ही प्रकार के मोह का नाश करने के लिए आत्मा को उपर्युक्त तीनो करण करने होते है किन्तु इन दोनों तरह के मोह में से दर्शनमोह 'घूमसे' की कालिख के समान चीठदार होता है और चारित्रमोह कोयलों के संसर्ग से लगी हुई कालिख की तरह साधारण से प्रयास से दूर हो जाने वाला है, अत: मोह शब्द से प्रधानतया दर्शनमोह ही लिया जाता है और चारित्रमोह को रागद्वेष शब्द से।

दूसरी बात यह भी है कि दर्शनमोह का जब अभाव किया जाता है तो उसके साथ में आंशिक चारित्रमोह- अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ-का भी अभाव हो जाता है, तभी सम्यग्दर्शन होता है। अत: सम्यक्त्व शब्द से भी अधिकतर सम्यग्दर्शन को ही लिया जाता है जिसके साथ अन्यायाभक्ष्य में अप्रवर्तनरूप चारित्र होता ही है। सम्यग्दर्शन उपर्युक्त परिकर होने से सम्पन्न होता है।

आत्मा एक रेलगाड़ी की भांति है जो मोक्षनगर को जाना चाहती है, उसका मोक्ष के सम्मुख रवाना होना सम्यक्त्व है। उसमें (काललब्धि) तो रेल की पटरी सरीखी है जिसके बिना रेल नहीं चल सकती वैसे ही काललब्धि पाये बिना सम्यक्त्व भी नहीं होता। (क्षयोपशमलब्धि) का होना संज्ञीपने का पाना सो रेल के पहियों सरीखा है जिसके होने से आगे बढ़ा जा सकता है। (देशनालब्धि) सीटी का काम करती है जो कि सुझाव देती है। (विशुद्धिलब्धि) लैन सफाई का सा काम करती है ताकि आगे बढ़ने में कोई रूकावट नहीं रहे। (प्रायोग्यलब्धि) कोयला और जल का या बॉयलर का काम करती है जो शक्ति प्रदान करती है; किन्तु (करणलब्धि) चाबी या हैण्डल का काम करती है जिसके घुमाने से रेल चल ही पड़ती है।

सम्यक्त्व होने पर इस आत्मा की कैसी चेष्टा होती है, सो बताते है-

तत्त्वार्थमाश्रद्दधतोऽस्यदूरवर्तित्वमन्यायपथान्मृदूरः।

जानाति भोगान् रुजिजायुमेलतुल्यानतो न त्यजतीष्टखेलः ॥३०॥

अन्वयार्थः- [तत्त्वार्थमाश्रद्दधतः अस्य (सम्यग्दृष्टेः) अन्यायपथात् दूरवर्तित्वम्]। तत्त्वार्थ का श्रद्धान करने वाले इस सम्यग्दृष्टि जीव के अन्यायपथ से दूरवर्तित्वदूरपना रहता है। अयं मृदूरः भोगान् रुजि (वेदनायाम्) जायु (औषधं) मेलतुल्यान् जानाति। यह कोमल हृदय वाला समुचित विषय भोगों को भी वेदना यानि रोग में औषधि के सेवन के समान जानता है (अर्थात् मात्र विषय-वेदना के प्रतिकारार्थ भोग भोगता है) [अतः (अयं) इष्टखेलः (भोगान् न) त्यजति, (किन्तु भुङ्क्ते]। और इसी कारण यह भोगों को छोड़ता नहीं अपितु भोगता है॥३०॥

अर्थः- तस्य भावस्तत्त्वं, वस्तु के स्वरूप का नाम तत्त्व है और उससे जो प्रयोजन सधे, वस्तु के स्वरूप से जो काम निकले, उसे तत्त्वार्थ एवं उस तत्त्वार्थ का जो श्रद्धान करे, उसे तत्त्वार्थश्रद्धानी कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव तत्त्वार्थश्रद्धानी होता है। मिथ्यादृष्टि वस्तु के स्वभाव को नहीं मानता, आत्मा के सहजभाव को स्वीकार नहीं करता और न वह अजीव पुद्गल के ही स्वभाव को समझता है। उसकी दृष्टि तो संयोगीभाव पर रहती है। शरीर सहित चेतन को ही आत्मा यानि जीव और इन दृश्यरूप पुद्गल स्कन्धों को अजीव मानता है। ये कीड़ी, मकोड़ा, पशु-पक्षी, देव, नारकी और मनुष्य ये तो जीव हैं तथा ईंट, पत्थर, चूना वगैरह अजीव हैं; बस, और कुछ नहीं ऐसा समझता है।

अथवा- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पृथक्-पृथक् पंचभूतों के मेल से बने हुए इस सचेष्ट शरीर को ही जीव समझता है इसलिये यह कीड़ा, मकोड़ा, या यह मनुष्य मर गया अर्थात् जीव नष्ट हो गया एवं यह जल में मेंढक, गोबर में दीमक, घृत में गिंडोला और विष्ठा में गुड़बाणियां कीड़ा पैदा हो गया अर्थात् इनसे ही जीव निपज गया, ऐसा मानता है। थोड़ा अगर आगे बढ़ा तो मानता है कि यह शरीर मिट्टी का पुतला है और आत्मा रूप, रस, गन्धादि से रहित एक व्यापक वस्तु है, सर्वत्र है; यह भी संयोगीभाव ही हुआ। अथवा परब्रह्म एक है, यह सब उसी की माया है। यह भी संयोगी विकारी भाव हुआ, इत्यादि रूप से अतत्त्वश्रद्धानी

बना हुआ है। वस्तु के स्वरूप को और का और माने हुए है। कभी अगर सद्गुरु का समागम हो गया तो उनके कहने को ज्ञान में लेकर कहता है कि यह शरीर इत्यादि सब परवस्तु हैं, मैं इनसे भिन्न हूं, कर्म जड़ है, आत्मा में होकर भी आत्मा से भिन्न हैं, मेरी आत्मा उनसे भिन्न ज्ञानमय है। तब कहीं चेष्टा में अशुभ से शुभ पर भी आता है, परन्तु पर-संयोग रहित शुद्धस्वभाव पर रुचि नहीं लाता है। यह भी कहता है कि राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है, मैं जीव हूं, चेतना स्वरूप हूं। इसप्रकार सप्त तत्त्वादि के विचार से वर्तमान में सरलभाव होता है, किन्तु स्वभाव की महिमा को पकड़ नहीं पाता ; संयोगभाव की ओर ही झुका हुआ रहता है। जैसे कि किसी वेश्याबाज को समझाया जाये कि वेश्या तो धन से दोस्ती रखती हैं, वह तुम से प्यार नहीं करतीं ; तुम उसके साथ प्रेम में फंसकर दुःख पाओगे। इपनी गृहिणी जो सच्चा प्यार रखती है, उससे मिलकर आराम से रहो, तो इस बात को सुन तो लेता है और याद भी रखता है किन्तु उस वेश्या की चापलूसी भरी चेष्टा को हृदय पर से नहीं उतारता है? तब तक उधर से हटकर अपना कदम इधर नहीं रखता है; वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव भगवान वीर की वाणी का सुनाता है, उसे ज्ञान में लाता है मगर अपनी पर्याय बुद्धि को दिल से नहीं उतार पाता है; सोचता है कि अहो! यह शरीर न हो तो मैं जपतप, संयम कैसे पाल सकता हूं? कैसे अपना भला कर सकता हूं? इस विचार पर नहीं जम पाता कि मेरा आत्मा भिन्नद्रव्य है ओर यह शरीर पुद्गल परमाणुओं का पुञ्ज है। इसका मेरे साथ वास्तव में क्या मेल है? कुछ नहीं। प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न होता है। एक द्रव्य दूसरे के साथ मिलकर कभी एक नहीं हो जाता और जब एकता नहीं, वहां कौन किसका सुधार और बिगाड़ कर सकता है? इस शरीर के परमाणु अपने रूप से शाश्वत हैं तो मेरा आत्मा भी अपने रूप में सदा रहने वाला है। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि को अपनाने से सम्यग्दर्शन होता है।

हां, आत्मा के विकारग्रस्त होने में विकारी पुद्गल परमाणु समूह निमित्तरूप हो सकता है किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से देखा जाय तो प्रत्येक परमाणु भी पृथक्-पृथक् ही हैं। दो परमाणु कभी मिलकर एक नहीं होते और एक पृथक् परमाणु कभी विकार का निमित्त कारण नहीं बन सकता। अर्थात् द्रव्यदृष्टि से कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के

विकार का निमित्त नहीं होता बल्कि द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो विकार कोई चीज है ही नहीं। जीवद्रव्य में भी द्रव्यदृष्टि से नहीं, किन्तु पर्यायदृष्टि से विकार है। अभिप्राय यह है कि जीव की वर्तमान अवस्था राग-द्वेषरूप हो रही है, इसमें कर्मोदय निमित्त कारण जरूर है किन्तु पर्याय तो क्षणस्थायी है। अत: उसे गौण करके द्रव्यदृष्टि से देखा जाए तो कर्म फिर चीज ही क्या है, कुछ भी नहीं, कर्म तो पुद्गल परमाणुओं के स्कन्ध विशेष का नाम होता है और द्रव्यपने प्रत्येक परमाणु भिन्न हैं, स्कन्ध होते ही नहीं हैं तो फिर जीव के विकार का निमित्त कौन और निमित्त के बिना विकार कहां से ? इसप्रकार द्रव्यदृष्टि के अपनाने पर राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण ही जब नहीं रहता तो वीतरागभाव सहज आ प्राप्त होता है। जो भी वीतराग बने हैं, वे सब इसी को स्वीकार करके उसके ऊपर चलने से बने हैं। इसप्रकार के तात्त्विक प्रयोजन को जो महानुभाव हृदयङ्गम कर लेता है उसका मानस कम से कम पाषाण सदृश कठोरता को छोड़कर मक्खन सरीखी कोमलता को स्वीकार कर लेता है।

यद्यपि यह जीव जब तक संयम धारण नहीं करता, तब तक अपने कर्मोदय से प्राप्त हुए समुचित विषय-भोगों का भोगता जरूर है परन्तु जैसे कोई रुग्ण आदमी रोग की पीड़ा को न सहने के कारण उसक प्रतिकार स्वरूप दवा का उपयोग किया करता है, वैसे ही यह भी उन्हें अपने काम में लाता है। फिर भी यह अपने ऐश-आराम की अपेक्षा दूसरे सज्जनों को आराम पहुंचाने में विशेष संलग्न रहता है। अपने इस चर्म के लिये नहीं किन्तु धर्म के लिये सदा ही उत्कण्ठित रहता है, अत: अपनी 'धाणियों को भी लात मार कर', प्राणियों के भले के लिये मरने को तत्पर रहता है एवं सहजतया अन्यायमार्ग से दूर रहता है।

आत्मत्वमंगे दधतोऽभिसृष्टिं, पर्याय एवास्य बभूव दृष्टि:।
सतां समेतस्य नितान्तमन्तोद्रव्येऽधुना दृष्टिरुदेति जन्तो:॥३१॥

अन्वयार्थ:- (सम्यक्त्वात्पूर्वम्) (अंगे आत्मत्वम् अभिसृष्टिं च दधत: अस्य पर्याये एव आत्मदृष्टि: बभूव)। सम्यग्दर्शन से पहले तो यह अङ्ग अर्थात् शरीर में ही आत्मपना मानता है तथा उसे सजाता वगैरह है। इसकी तब पर्याय में ही आत्मदृष्टि

बनी रहती है। [(परन्तु) अधुना सतां समेतस्य (समीपागतस्य) अस्य जन्तोः अन्तः द्रव्ये (अन्तरात्मनि) दृष्टिः नितान्तम् उदेति]। परन्तु सज्जनों के समीप आये इस पुरुष की दृष्टि अब अतिशयरूप से अन्तरात्मा में उदित होती है॥३१॥

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व आज तक जो यह जीव पर्यायदृष्टि हो रहा था, अपने शरीर को ही अपना स्वरूप समझ रहा था, देह को ही आत्मा माने हुए बैठा था, इस शरीर से भिन्न आत्मा को कोई चीज नहीं समझता था, अतः इस शरीर को ही मोटा ताजा और सुडोल बनाने में जुटा हुआ था एवं जब शरीर से न्यारा आत्मा कोई चीज नहीं तो परलोक, स्वर्ग और नरक वगैरह फिर रहे ही क्या? कुछ नहीं, इसलिए निःसंकोच होकर पाप-पाखण्ड करने में जुट रहा था, अपने इस शरीर को पुष्ट करने के लिये दूसरों की जान का दुश्मन बना हुआ था; अपनी जान बहुमूल्य किन्तु दूसरे की जान का कोई भी मूल्य नहीं, अतः इसके लिये भक्ष्याभक्ष्य का विचार तो कुछ था ही नहीं, सर्व भक्षी बन रहा था; चोरी-चुगलखोरी करके भी अपना मतलब सिद्ध करने में लग रहा था, किसी भी प्रकार की रोक-थाम इसके दिल के लिये थी ही नहीं; निरंकुश निडर हो रहा था; यदि डर था भी तो इस बात का कि (१) यह शरीर न बिगड़ जाये, (२) कोई दूसरा आदमी मुझे कुछ कष्ट न दे बैठे, (३) इस शरीर में कोई रोग-वेदना न हो जाये, (४) और भी न मालूम किस समय कौनसी आपत्ति मुझ (इस शरीर) पर आ पड़े, (५) जिससे मैं मारा जाऊँ (६) क्या करूं, कहां जाऊं, कोई मेरा नही जिसकी शरण गहूं; (७) ऐसा स्थान नहीं जहां पर जा छिपूं; इस प्रकार के डर के मारे कांपा करता था; इसकी समझ में यह सारी दुनियां ही इसकी दुश्मन थी, क्योंकि यह था अपने मतलब का यार, दुनियां का कांटा। आप धाप चुका तो दुनिया छकी और आप मरा तो जगत्प्रलय हो गया, यह भावना। इसलिये सबसे बैर, किसी से भी प्रेम नहीं। अगर कहीं हुआ भी तो वह भी स्वार्थ को लिये हुए, ऊपर से दिखाऊ प्रेम हुआ। इस प्रकार अपने शरीर का ही साथी होकर कुपथ का पथिक बना रहा। किन्तु अब जब सम्यग्दर्शन हो गया तो अन्तःस्थल में आत्मद्रव्य पर विश्वास हो लिया कि मेरी आत्मा इस शरीर में होकर भी इस शरीर से भिन्न है और सच्चिदानन्द स्वरूप है। इस प्रकार के विश्वास

के द्वारा इसका वह उपर्युक्त विश्वास अब जाता रहा एवं जो निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय प्रतिषेध्य है और निश्चयनय का आश्रय लेने पर ही जीव सम्यग्दृष्टि बनता है; इस प्रकार के श्री कुन्दकुन्दाचार्य के कथन को सार्थक कर दिखला रहा है क्योंकि --

ववहारणओ भासदि जीवो देहो, य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो, य कदावि एकट्ठो॥२७॥

आचार्य श्री ने ही अपने (समयसार) में बतलाया है कि जो जीव को और देह को एक बतलाया करता है वह व्यवहारनय होता है किन्तु जो जीव और देह को कभी भी एक न बताकर सर्वदा भिन्न-भिन्न बतलाता हो वह निश्चयनय है। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयनयाश्रयी होता है। इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि वह व्यवहार को बिलकुल भूल ही जाता है अपितु इतर प्राणियों के प्रति वह व्यवहार का पूरा-पूरा आदि होता है। अपने शरीर पर अगर कोई आपत्ति आती है तो उसे सहन करना पड़ता है, उसमें पत्थर के समान मजबूत दिलवाला रहता है, घबराता नहीं है, सोचता है कि ये विघ्न मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं, यह बाधा तो शरीर पर होती हैं। मेरी आत्मातो शरीर से भिन्न है, उसका कोई बिगाड़ इससे नहीं हो सकता। इस मेरे कहलाने वाले शरीर के भी परमाणु वस्तुतः सब भिन्न-भिन्न नित्य हैं, उनका भी इससे बिगाड़ हो सकता है क्या? नहीं। फिर घबराने की बात ही कौनसी है, इति। मगर वही जब दूसरों पर किसी प्रकार को आपत्ति आई हुई देखता है तो शीघ्र ही अग्नि से मक्खन के पिघलने की भांति इसका मन पिघल उठता है, यथाशक्ति उसे उन पर से दूर करने की चेष्टा करता है। वहां यह नहीं सोचता कि इनकी आत्मा तो शरीर से भिन्न है, इत्यादि और इसीलिये अपनी तरफ से जहां तक हो सके किसी को भी किसी प्रकार का कष्ट देना ही नहीं चाहता है, क्योंकि यह जानता है कि इनकी आत्मा और शरीर परस्पर जब एक बन्धन रूप है तो फिर इनके शरीर में किया हुआ कष्ट इनकी आत्मा को ही होता है, उस कष्ट का संवेदन तो इनकी आत्मा ही करती है। ऐसा विचार कर वह हिंसा, झूठ, चोरी, अभक्ष्य-भक्षणादि कुकर्मों से बचा हुआ रहता है, सबके साथ मित्रता का व्यवहार करता है। पूर्वोक्त मिथ्यादृष्टि

सरीखी क्रूरता का इसमें नामलेश भी नहीं रहता है, यह सभी के साथ में प्रेम का बर्ताव रखता है, किसी के भी प्रति इसका वैर-विरोध-द्वेषभाव प्रथम तो होता ही नहीं; यदि कहीं किसी पर होता भी है तो पुत्र के प्रति पिता की भाँति उसे ताड़ना देकर उसे सत्पथ पर लाने के लिये स्नेहान्वयी रोष हुआ करता है जैसा कि विष्णुकुमार स्वामी का बलिब्राह्मण पर हुआ था जिसकी गणना द्वेष मे नहीं होनी चाहिये।

यद्यपि इस सम्यग्दृष्टि का खुद का भोलेपन वगैरह से कोई अविनय कर देता है तो उसकी तरफ यह कुछ ध्यान नहीं देता, परन्तु किसी के द्वारा किये गये पूज्य पुरुषों के अविनय को यह कभी सहन नहीं कर सकता क्योंकि स्वयं उनका यथाव्यवहार पूर्ण विनय करता है। यद्यपि शरीर से आत्मा को भिन्न मानता है अतः शरीर में से बहने वाले पसीने को आत्मा की क्रिया न मानकर उसे शरीर की क्रिया मानता है परन्तु खाना-पीना, स्त्री-सम्भोग करना और वस्त्रधारण करने जैसी क्रियाओं को निरे शरीर की ही क्रिया नहीं मानता बल्कि वहां पर शरीर और आत्मा को एक जानकर उन्हें तो अपने ही द्वारा की हुई मानता है। इस प्रकार निश्चयनय सहित व्यवहारनय का अनुयायी होता है। हां, पूर्वोक्त मिथ्यादृष्टि की भांति निरे व्यवहारका ही अनुयायी हो सो बात अब नहीं है, किन्तु अब वह सद्व्यवहार का धारक होता है; क्योंकि इसका दर्शनमोह तो गल गया फिर भी चारित्रमोह बाकी है, अतः रागांश के वश होकर इसे ऐसा करना होता है और इसीलिए यह सरागसम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इस प्रकार आत्म प्रयत्न से मिथ्यात्व को दबाकर सम्यक्त्व प्राप्त किया जाता है।

आत्म-प्रयत्न से मिथ्यात्व को दबाकर प्राप्त किया हुआ सम्यक्त्व कितने समय तक रहता है और उसका नाम है सो बताते हैं --

सम्यक्त्वमेतत् प्रथमोपशाममन्तमुर्हूर्तावधि भाति नाम।
पश्चात्तु मिथ्यात्वमुदेति यद्वा प्राप्तिश्च सम्यक्प्रकृतेरियं वाक्॥३२॥

अन्वयार्थः- (एतत् प्रथमोपशामम् नाम सम्यक्त्वं अन्तमुर्हूर्तावधि भाति)। यह प्रथमोपशम नाम का सम्यक्त्व अन्तमुर्हूर्त अवधि वाला होता है। [पश्चान्मिथ्यात्वम् उदेति, तु (च) (मिथ्यादृष्टिर्भवति)] इसके बाद मिथ्यात्व उदित होता है और जीव

मिथ्यादृष्टि हो जाता है [यद्वा (अथवा) सम्यक्त्वप्रकृतेः प्राप्तिः भवति]। अथवा सम्यक्त्वप्रकृति का उदय होता है। च। (अत्र च शब्दस्यार्थः कथ्यते-"अथवा मिश्रः प्रकृतेः प्राप्तिः भवति, तेन च समयङ्मिथ्यादृष्टिः भवति") च से जाना जाता है कि कदाचित वह मिश्रप्रकृति के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी हो जाता है। (इयं वाक् ज्ञातव्या)। यह जिनवाणी है॥३२॥

अर्थः- मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि बनने वाले दो प्रकार के जीव होते हैं। एक अनादि दूसरा सादि। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव एक दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबन्धी कषाय इन पांच प्रकृतियों का उपशम करके, उन्हें दबा कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। यह सम्यग्दर्शन एक अन्तर्मुहूर्त मात्र तक रहता है परन्तु इस अन्तर्मुहूर्त मात्र सम्यक्त्व काल में यह जीव आत्मपरिणामों द्वारा सत्ता में रहने वाले उस मिथ्यादर्शन कर्म के तीन टुकड़े कर लेता है-दर्शनमोह, मिश्रमोह और सम्यक्प्रकृति मोह कर्म। अब सम्यग्दर्शन का काल समाप्त होते ही यदि मिथ्यात्व का उदय आया तो वापस मिथ्यादृष्टि बन जाता है।

फिर जब कभी सम्यग्दृष्टि बनता है तो यह सादि मिथ्यादृष्टि जीव अपनी तीन तो दर्शनमोह की और चार अनन्तानुबन्धी कषाय इन सात प्रकृतियों का उपशम करने से सम्यग्दृष्टि हो पाता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि से जो सम्यग्दृष्टि बनता है उसके सम्यग्दर्शन को प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। हां इस प्रथमोपशम सम्यक्त्व वाले के दर्शनमोह का उदय न आकर सम्यक्प्रकृति मोहका उदय आया हो तो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और अगर मिश्र मोहनीय का उदय आया हो तो मिश्रस्थानी भी बन सकता है किन्तु बाद में फिर मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यक्त्वी हो जाता है'। ऐसा कितनी बार होता है सो बताते हैं --

मिथ्यादशातः समुपैतिसम्यक्दशामतोऽन्यांबहुशोऽभि गम्य।
यावत्खलु क्षायिकभावजातिस्तत्पूर्तितोऽन्ते शिवतां प्रयाति॥३३॥

अन्वयार्थः- (मिथ्यादशातः अन्यान् बहुशः समुपैति) मिथ्यात्वसे अन्य

अवस्थाओं (तृतीय गुणस्थान, चतुर्थ गुणस्थान आदि) को बहुत बार प्राप्त करता है [सम्यग्दशातः (च) (अन्यान् बहुशः) अभिगम्य यावत्] तथा सम्यक्त्व से भी च्युत होकर अन्य दशाओं (सासादन, मिथ्यात्व व मिश्र) को प्राप्त कर जब तक (क्षायिकभावजातिता पूर्तितः) क्षायिकसम्यक्त्व की प्राप्ति से, (अन्ते खलु शिवतां प्रयाति) अन्त में निश्चय ही मोक्षपने को प्राप्त हो जाता है॥३३॥

अर्थः- इस प्रकार अपने उस अर्द्ध पुद्गल परिवर्तनकाल में यह जीव मिथ्यादृष्टि से सम्यकदृष्टि और सम्यग्दृष्टि से फिर मिथ्यादृष्टि अनगिनत बार भी हो सकता है- जब तक कि इसे क्षायिकभाव की प्राप्ति नहीं हो जाती । अन्त में, अधिक से अधिक अपने अन्तिम जन्म से पूर्व के तीसरे जन्म में दर्शनमोह का नाश करके क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त करता है यानी क्षायिक सम्यग्दर्शन जिस भव में होता है उस भव सहित चार भव तक संसार में अधिक से अधिक रहता है क्योंकि फिर भी क्षायिकचारित्र का प्राप्त करना इसके लिये बाकी रह जाता है सो उसे अपने चरम जन्म में प्राप्त होकर घाति-कर्मों का नाश कर केवलज्ञानी बनकर आयु के अन्त में अशरीर होते हुए साक्षात् अमूर्त सिद्ध दशा को प्राप्त करता है। आज तक के बीते हुए काल में ऐसे अनन्त सिद्ध परमात्मा हो गये हैं। उनका संक्षिप्त स्वरूप बतलाते हैं-

वन्देऽन्तिमांगायितबोधमूर्तीनुपात्तसम्यक्त्वगुणोरुपूर्तीन् ।
लोकाग्रगान्विश्वविदेकभावानहं सदानन्दमयप्रभावान् ॥३४॥

अन्वयार्थः- अहं मैं (अन्तिमाङ्गायित बोधमूर्तीन्) अन्तिम शरीर (देशोन) के समान आकार वाले, ज्ञानस्वरूपी (उपात्त सम्यक्त्वगुणोरुपूर्तीन्) प्राप्त सम्यक्त्व गुण की श्रेष्ठ पूर्ति जिनके है उन (लोकाग्रगान्) लोकाग्र में जाने वाले (विश्वविदेकभावान्) सकल विश्व को जाननेरूप एक अखण्डभाव स्वरूपी और(सदानन्दमयप्रभावान्) सदा आनन्द मय स्वभाव के धारक सिद्धों को (वन्दे) नमस्कार करता हूं॥३४॥

सिद्ध हो जाने के बाद उनकी आत्मा का परिणमन उनके अन्तिम शरीर से कुछ न्यून तथा रूप, रस, गन्धादि से रहित ही रहता है वे परिपूर्ण शुद्धता को लिये

हुए ज्ञान दर्शनादि अनन्तगुणों के भण्डार ही रहते हैं। यद्यपि वे सिद्धभगवान जाकर लोक के अग्रभाग मे विराजमान हो रहते हैं, मगर अपने सहज अखण्डज्ञान से विश्वभर के पदार्थों को स्पष्टरूप से जानते रहते हैं। इसलिये सदा आनन्दमय स्वभाव के धारक होते हैं। ऐसे सिद्ध परमेष्ठियों को मेरा नमस्कार हो।

सिद्धदशा का मूलभूत बीज सम्यक्त्व कैसे प्रस्फुटित होता है, सो बताते हें-

दृग्मोहकर्मत्रितयस्य तस्य चारित्रमोहद्यचतुष्टयस्य।
सम्यक्त्वमस्तूपशमाच्च नाशात्निद्यतेऽमुष्य दशा समासात्॥३५॥

अन्वयार्थः- (तस्य जीवस्य चारित्रमोहादिचतुष्टयस्य दृङ्मोहत्रितस्य) उस जीव के चारित्रमोह की आदि की चार प्रकृतियों के तथा दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों के (उपशमात् नाशात्) उपशम से या नाश से च (चात् क्षयोपशमत्वं, घोत्यते) अथवा क्षयोपशमसे (सम्यक्त्वम् अस्तु) सम्यक्त्व होता है। (अथ अमुष्य दशा समासात् निगद्यते) अब इस जीव की चेष्टाओं का कथन संक्षेप में किया जाता है॥३५॥

अर्थः- जैसे जमीन के भीतर दबा हुआ बीज अनूसरपन, खाद, पानी और पलाव की मदद से समय पाकर अपनी स्फुरण शक्ति के द्वारा मिट्टी को दबा कर अंकुरित हो लेता है वैसे ही कर्मों के भार से दबा हुआ यह जीवात्मा भी पूर्वोक्त क्षयोपशम, देशना, विशुद्धि और प्रायोग्यलब्धि की मदद से काललब्धि होने पर अपनी करणशक्ति के द्वारा मोह को दबाकर सम्यक्त्ववान् बनता है। मोहकर्म का ह्रास उपशम, क्षय और क्षयोपशम के भेद से तीन तरह का होता है अतः सम्यक्त्व के भी औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इस प्रकार तीन ही भेद हो जाते हैं।

ध्यान रहे कि मोह के दर्शनमोह और चारित्रमोह ऐसे दो भेद होते हैं सो दर्शनमोह के साथ ही साथ चारित्रमोह का भी अभाव हो जाता हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु दर्शनमोह के अभाव में चारित्रमोह बिलकुल अछूता ही बना रह जाता हो, वह अपनी पूरी ताकत बनाये रखता हो और सम्यग्दर्शन हो जावे, सो बात भी नहीं है किन्तु दर्शनमोह के साथ चारित्रमोह की भी एक चतुर्थांश बलि हो लेती है, तभी सम्यग्दर्शन

होता है; अत: सम्यग्दर्शन को भी सम्यक्त्व शब्द से कह दिया जाता हे वरना तो सम्यक्त्व नाम तो मोह के अभाव का है।

दर्शनमोह की तीन प्रकृतियां और चारित्रमोह की शुरू की अनन्तानुबन्धी नाम वाली चारो प्रकृतियां- इन सात प्रकृतियों का उपशम हाने पर तो औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है जिसको(प्रथमौपशमिक सम्यग्दर्शन) भी कहते हैं क्योंकि एक औपशमिक सम्यग्दर्शन वह भी होता है जिसको उपशम श्रेणी के सम्मुख होने वाला (क्षायोपशमिक) सम्यकग्दृष्टि जीव प्राप्त करता है। जो अपनी सम्यक्प्रकृति का उपशम और अनन्तानुबन्धी चतुष्टय का विसंयोजन करके पाता है उसको (द्वितीयौपशमिक सम्यग्दर्शन) कहा जाता है। उन्ही सात प्रकृतियों का क्षय होने से, उनमें होने वाले कर्मत्व का सर्वथा अभाव हो जाने से जो हो वह (क्षायिक सम्यग्दर्शन) होता है। 'च' कार से (क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन) भी होता है जो क्षयोपशम से होता है।

वर्तमान काल में उदय आने योग्य कर्मों के सर्वघातिस्पर्द्धकों का तो उदयाभावी क्षय हो, वे अपना कुछ भी असर आत्मा पर न दिखाकर बेकार होते जा रहे हो और देशघातिस्पर्द्धकों का उदय हो अर्थात् वे अपना प्रभाव दिखाते रहते हों किन्तु आगामी काल में उदय में आने वाले स्पर्द्धकों का सदवस्थोपशम हो यानी उनको भी उदीरणा न हो आवे, कर्मों की ऐसी अवस्था को (क्षयोपशम) कहते हैं। मतलब यह है कि आत्मा के ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म तो घाती कर्म कहलाते हैं क्योंकि ये आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करते हैं। बाकी के चार कर्म अघातिया होते हैं क्योंकि वे स्वमुख से आत्मगुणों का घात नहीं करते किन्तु उन्हीं घातिया कर्मों की सहायता करते हैं। सो उन घातिया कर्मों में दो तरह के स्पर्द्धक होते है- एक तो सर्वघाती जो आत्मगुणों को पूरी तौर से घातते हों और दूसरे देशघाती-जो आत्मगुणों का आंशिकरूप में घात करते हों। सम्यक्त्व को न होने देने वाली उपर्युक्त सात प्रकृतियों में से एक सम्यक्त्व प्रकृति तो देशघाती है, बाकी की छह प्रकृतिया सर्वघाती। सो क्षायोपशमिक सम्यदृष्टि के उन छह प्रकृतियों का तो विपाकोदय न होकर सिर्फ प्रदेशोदय होता रहता है, उनके

स्पर्द्धक तो मृतप्राय होकर निकलते रहते हैं किन्तु एक सम्यक्त्वप्रकृति अपना फल दिखलाती रहती है ताकि उसके सम्यग्दर्शनका घात न होकर उसके परिणामों में चलविचलपना होता रहता है। जैसे- बुड्ढे के हाथ में होने वाली लाठी अपना कार्य करती हुई भी स्थिर और दृढ़ न होकर हिलती हुई रहा करती है। बाकी के औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के परिणाम सुदृढ़ और निर्मल होते हैं जैसे कि जवान आदमी के हाथ में होने वाली तलवार अपना कार्य अच्छी तरह से करती है।

सम्यग्दृष्टि की चेष्टा कैसी होती है, सो संक्षेप में कहते हैं-

अयं पुनर्लोकपथे स्थितोऽपि, न सम्भवेत् तात्त्विकवृत्तिलोपी।
न जंगमायाति सुवर्ण खण्डः पंके पतित्वापि च लोहदण्डः ॥३६॥

अन्वयार्थः- (पुनः अयं लोकपथे स्थितोऽपि तात्त्विकवृत्तिलोपी न सम्भवेत्।) यह सम्यक्तवी जीव लोकपथ में स्थित होता हुआ भी (तात्त्विकवृत्तिका) लोप करने वाला नहीं होता है। (यथा सुवर्णखण्डः पंके पतित्वा अपि जङ्गम् न आयाति;) जैसे सोने की डली कीचड़ में गिरकर (पड़ी रहकर) भी जंग को प्राप्त नहीं होती, जबकि (लोहदण्ड तु जङ्गमायाति) लोहा जंग को प्राप्त हो जाता है॥३६॥

अर्थः- यह उपर्युक्त सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुका है फिर भी चारित्रमोह का अंश इसकी आत्मा में अभी विद्यमान है इसलिये इसकी प्रकृति जैसी होनी चाहिये थी वैसे अभी नहीं हो पाई है। यद्यपि यह जान चुका है कि यह शरीर मुझसे या मेरी आत्मा से भिन्न है तथा जितने भी ये माता-पिता, पुत्री-पुत्रादि रूप सांसारिक नाते है वे सभी इसी शरीर के साथ हैं, फिर भी इस शरीर के नातेदारों को ही लोगों की भांति अपने नातेदार समझते हुए उनके साथ में वैसा ही बर्ताव किया करता है; तो भी अपनी उस तात्त्विक श्रद्धा को नहीं खोता है बल्कि इस व्यावहारिक चेष्टा से भी उसको पुष्ट करने की कोशिश करता है। इस बात को समझने के लिये हमें मैनासुन्दरी का स्मरण करना चाहिये। मैना से जब उसके पिता ने कहा कि बेटी मैना ! तेरी बड़ी बहिन सुरसुन्दरी के समान तू भी तेरे पति को निगाह कर ले- तू

कहेगी उसी महाराजकुमार के साथ मैं तुझे ब्याह दूंगा। इस पर (पिता को पिता मानते हुए) मैना ने कहा- 'पिताजी ! यह मेरा काम नहीं है, यह तो आपका कार्य है आप जिसके भी साथ में उचित समझें मेरा विवाह कर दें।' इस पर पिता यद्यपि नाराज हुआ और बोलाकि 'देख ! तू अपने पति को स्वयं ढूंढ ले नहीं तो इसमें अच्छा नहीं; किन्तु तेरा बहुत बुरा हो जायेगा।'' इत्यादि। किन्तु मैना तो अपनी श्रद्धा को अटल किये हुए थी कि मेरे पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार जिस किसी के साथ मेरा सम्बन्ध होना है, वही तो होगा, इसमें कोई क्या कर सकता है तो फिर मैं क्यों व्यर्थ ही निर्लज्ज बनूं और क्यों कायरों की श्रेणी में अपना नाम लिखाने का काम करूं।

शंङ्का- तो क्या अपने भले के लिये प्रयत्न करना कायरता है? बल्कि यह तो पुरूषार्थ हे।

समाधान- आप कौन और उसका भला क्या करना? आप तो है आत्मा जिसका कि भला वीतरागता में होता है सो कषायोदय का निमित्त उपस्थित होने पर भी उसको अपने उपयोग मे न लाकर वीतरागता अर्थात् मन्दकषायिता की ओर झुकना इसी का नाम तो यत्न है जैसा कि मैना ने किया था; प्रत्युत निमित्तानुसार परिणमन करके कषायों को पुष्ट करना तो कायरता है जैसा कि अज्ञानी जीव किया करता है। यही तो संसारी जीव और मुक्तिमार्गी जीव में परस्पर विशेषता होती है। कीचड़ में पड़कर लोहा जंग पकड़ जाया करता है मगर सोना वैसा नहीं होता। वह भले ही जबतक उसमें पड़ा है उससे लिपा हुआ रहता है परन्तु जहां उसे जरा सा पानी से धोया कि साफ-सुथरा हो लेता है। बस, वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी जबतक गृहस्थ होता है या कषायवान है तब तक कर्म और कर्मफलरूप अज्ञानचेतनामयी चेष्टा वाला होता है फिर भी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा उसमें बहुत कुछ अन्तर होता है। से आगे बताते हैं-

एतस्य बाह्यात्मवतोऽपि चेतः, कर्मण्यथो कर्मफले तु चेतः।
तथापि रामस्य च रावणस्येव बुद्धिमानन्तरमाशु पश्येत्।।३७।।

अन्वयार्थः- एतस्य बाह्यात्मवत:,अपि (सम्यग्दृष्टे:अपि इति) इस बहिरात्मा के तथा अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि के भी, (कर्मणि चेत: तु अथ कर्मफले चेत:) कर्म चेतना और कर्मफलचेतना होती है। (तथापि बुद्धिमान् रामस्य च रावणस्य इव अन्तरम् आशु पश्येत्) फिर भी बुद्धिमान् पुरुष राम और रावण के अन्तर की तरह यहाँ भी अन्तर शीघ्र देख लेवें ॥३७॥

अर्थः- यद्यपि उदय में आये हुए कर्म के फल को मिथ्यादृष्टि के तरह से सम्यग्दृष्टि भी भोगता है तथा अपने कषायांश के अनुसार पाप के फल को बुरा और पुण्य के फल को अच्छा भी समझता है अत: जब तक गृहस्थावस्था में होता है तब तक पाप के फल से बच कर पुण्यफल को बनाये रखने की यथासाध्य बुद्धिपूर्वक चेष्टा भी करता है; फिर भी इन दोनों की चेष्टाओं में पशु और मनुष्य का सा अन्तर होता है। खाने को पशु भी खाता है और मनुष्य भी, किन्तु पशु सिर्फ पेट पालने में ही लगा रहता है, उसे औचित्यानौचित्य का विचार नहीं रहता। वह भूसे के साथ में कोई कांटा, कंकर, मिट्टी हो उसे भी खा जाता है जबकि मनुष्य उन्हें यत्नपूर्वक हटा कर अपने भोजन को साफ-सुथरा करके खाया करता है। बछड़ा गाय का दूध पीता है,उससे आप भी फोरपाता है और गाय भी आराम से रहती है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि की चेष्टा खुद के लिए और दूसरों के लिये भी लाभदायक हुआ करती है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव अपनी चेष्टा के द्वारा आप भी कष्ट भोगता है और औरों को भी कष्टप्रद हुआ करता है। जैसे कि जोंक पराया खून चूसती है सो उसे तो कष्ट पहुंचता ही है किन्तु आप भी कष्ट उठाती है। देखो! कौटुम्बिक जीवन को भोगने वाले राम भी रहे और रावण भी था किन्तु दोनों के आचरण में कितना अन्तर था, इसे कोई भी विद्वान सहज में समझ सकता है। श्री रामचन्द्र अपने पिता का वचन व्यर्थ न होने पावे और मां कैकेयी को भी कष्ट न पहुंचे सिर्फ इसीलिए अपने न्यायोचित राज्य को भी भाई भरत के लिये दे चले और आप वनवास में रहे तथा रास्ते में भी जो कुछ राज्य सम्पत्ति पाई उसे औरों के लिये अर्पण करते चले गये, इसी में उन्हें आनन्द प्राप्त था। जब सीता हरी गई तो उसका पता लगाना और शीघ्र से शीघ्र लाना एक आवश्यक बात थी। फिर भी सुग्रीव जब मिला तो बोले कि "मेरी सीता की तो

कोई बात नहीं, मैं पहले तुझे तेरी सुतारा दिलाता हूं, चलो !"वाह रे उदारता! वाह रे परोपकार! क्या कहना है इस महत्ता के बारे में। अब चलो रावण की तरफ-रावण जब खरदूषण (जो उसका बहनोई लगता था) की सहायता के लिए रवाना हुआ और रास्ते में उसने सीता को देख लिया तो खरदूषण की सहायता करने की बात तो भूल गया और बीच में ही सीता को हथिया कर चलता बना। जब लोगों ने उसे समझाया कि यह बात तुम्हारे लायक नहीं है तो गुरूजनों की बात को भी ठुकराकर उसने विभीषण सरीखे भाई को भी निकाल बाहर कर दिया। वह क्षणिक भोगविलास की लालसा में फंस कर अपने आपके लियेतथा औरों के लिये भी कांटा बन गया, इसीलिये वह राक्षस कहलाने का अधिकारी हुआ। बस, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृषिट की चेष्टा में भी यही अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि जीव भोगों के पीछे प्राण तक दे देता है किन्तु सम्यग्दृष्टि गृहस्थ सम्प्राप्त भोगों को उदारता के साथ भोगता है।

प्राप्त्यै तुभोगस्य यतेतसव्यस्तं प्राप्तमेवानुकरोति भव्यः।
साम्राज्यमंगीकृतवान्सुभोमः, सुतःपुरोरत्र च सार्वभोमः ॥३८॥

अन्वयार्थः- (सव्यः भोगस्य प्राप्त्यै यतेत) सव्य अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रतिकूल व्यक्ति तो भोगों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, (भव्यः तु तं प्राप्तम् एव अनुकरोति) भव्य तो जो कुछ प्राप्त हुआ है उसी का अनुकरण (सन्तोष) करता है। अत्र (इस संसार में) (सुभौमः) सुभौम (सर्वाभौमः) चक्री ने (साम्राज्यम् अङ्गीकृतवान् च पुरोः सुतः) षट्खण्ड का साम्राज्य अङ्गीकृत किया और आदि ब्रह्मा के पुत्र भरत ने भी (परन्तु तयोः महद् अन्तरम् वर्तते) लेकिन उन दोनों में महान् अन्तर है॥३८॥

अर्थः-मिथ्यादृष्टि जीव नये से नये भोगों को भोगने के लिये लालायित बना रहता है। जैसे कौआ जब प्यासा होता है तो एक बूंद किसी घड़े में से पीकर फिर एक चंचु किसीदूसरे घड़े में जा मारता है। ऐसे कई गृहस्थों के घड़े को बिगाड़ डालता है तो भी तृप्त नहीं होता। अव्रत सम्यग्दृष्टि भी भोग भोगता है किन्तु अपने कर्मोदय के अनुसार जो कुछ उसे प्राप्त होता है वह उसी को सन्तोष के साथ भोगा करता है। जैसे कि पालतु पिल्ला अपने मालिक की दी हुई रूखी-सूखी रोटियां खाकर भी

मस्त बना रहताहै। यह बात समझने के लियेहमारे पाठकों को सुभौम चक्रवर्ती और भरत चक्रवर्ती का स्मरण करना चाहिये । भरतजी ऋषभदेव भगवान् के ज्येष्ठ पुत्र इस युग के आदि चक्री हुए हैं, सुभौम भी इस युग के चक्रवर्तियों में से एक हैं। दोनों छह खण्ड पृथ्वी के भोक्ता थे और बाह्य सम्पत्ति परिकर आदि में समान थे परंतु दोनों के आत्म-परिणामों में जमीन-आसमान का सा अन्तर था। भरतजी दिन सरीखे प्रकाश को लिये हुए थे तो सुभौम रात्रि के अन्धकार में पड़ा था।

भरत महाराज इस सब ठाठ को अपने पूर्वकृत सविकल्पधर्म का फल मान रहे थे अत: धर्म को ही प्रथमाराध्य समझ रहे थे और वीतरागताके आन्द के आगे इन भोगों के सुख को अमृत के सम्मुख खल के टुकड़े जितना भी नहीं मान रहे थे इसलिए अन्त में इसे त्यागकर जरासी देर में पूर्ण वीतराग ही लिये जबकि सुभौम अपने राज्य को अपने बाहुबल से प्राप्त किया हुआ और बहुत बड़ी चीज मान रहा था, धर्म को ढकोसला समझ रहा था एवं भोगविलास में मग्न था इसीलिए अन्त में एक आम्रफल के स्वाद में पड़कर हड़काये हुए कुत्ते की भांति बेढंगेपन में मारा जाकर नरक में पड़ा। बस, इस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के विचार में भेद होता है तथा भोगों को भोगते समय भी दोनों की चेष्टाओं में बहुत कुछ भिन्नता होती है।

भुनक्ति भोगान्स्म स लक्ष्मणाश्च, रामश्च किन्त्वन्तरमप्युदंचत्।
युद्धे पुनः पाण्डवकौरवाभ्यां, मिथः कृतेऽप्यन्तरमेव ताभ्यां॥३९॥

अन्वयार्थ:- (स लक्ष्मण:भोगान् भुनक्ति स्म राम: च,) प्रसिद्ध लक्ष्मण भी भोग भोगता था और राम भीष (किन्तु अन्तरम् अपि उदञ्चत् प्रकटम्) अस्ति किन्तु उन दोनों में अन्तर भी प्रकट-स्पष्ट है। पुन: ताभ्यां कौरवपाण्डवाभ्यां मिथ: युद्धे कृते अपि (तयो:) अन्तरमेव।) यद्यपि उन कौरवों और पाण्डवों दोनों ने परस्पर युद्ध किया, तथापि उन दोनों (के उद्देश्यों) में अन्तर है ही॥३९॥

अर्थ:- एक से राज्य-वैभव के भोगने वाले राम और लक्ष्मण इन दोनों भाइयों

के भी आत्म-परिणामों में बहुत कुछ अन्तर रहा है। देखो, जब कैकेयी के कहने से दशरथ महाराज अयोध्या का राज्य भरत को देने लगे तो इस पर क्रोध में आकर लक्ष्मण तो धनुष तान करके दिखाने के लिए खड़े हो जाते हैं परन्तु श्री रामचन्द्र अपनी सरलता दिखाते हुए उसे ऐसा करने से रोकते हैं कि नहीं भाई!तुम लड़कपन मत दिखाओं, हमें ऐसा करना उचित नहीं। हमें तो माता कैकेयी के चरणों में मस्तक रखकर पूज्य पिताजी की आज्ञानुसार अयोध्या छोड़कर चल ही देना चाहिए। रावण से प्रतिद्वन्द्विता करते समय भी लक्ष्मण तो यह कहता जा रहा है कि रावण बड़ा दुष्ट है, हम उसे मारे बिना नहीं छोड़ेंगे परन्तु श्री रामचन्द्र बोलते हैं कि 'नहीं' रावण से हमारा क्या विरोध है, रावण तो हमारे बड़ों में से हैं। हमें तो हमारी सीता से प्रयोजन है। रावण जब बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने लगता है तो सुग्रीवादि सब घबराते हैं कि उसे यदि यह विद्या सिद्ध हो गई तो फिर वह किसी से भी नहीं जीता जाने का, अतः उसके ध्यान में विघ्न डाल देना चाहिये। इस पर श्री रामचन्द्र तो अपनी सहज गम्भीरता से जबाब देते हैं कि इस समय जब यह धर्माराधना में लगा हुआ है तो उस पर उपद्रव करना ठीक नहीं। भले ही हमारी सीता हमें न मिले, इत्यादि। किन्तु फिर भी लक्ष्मण उठता है ओर गुप्तरूप से इशारा करके रावण के प्रति विघ्न करने के लिये अंगदादि को भेज देता है। इसी प्रकार सीता की बुराई बताने के लिये जब अयोध्या के लोग आते हैं तो लक्ष्मण क्रोध करके उन्हें मारने को तैयार हो जाते हैं किन्तु श्री राम उनकी बातें ध्यान से सुनकर उन्हें छाती से लगा लेते हैं और सीता को निकाल ही देते हैं। इस प्रकार एक-सा राज्यभोग करते हुए सभी आत्म-परिणति की विशेषता से ही लक्ष्मण तो आज भी पातालका राज्य कर रहे हैं किन्तु श्री रामचन्द्रजी अन्त में कर्म काट कर मोक्ष प्राप्त कर गये हैं। यही हाल कौरवों और पाण्डवों का था। दोनों राज्य के हामी थे, दोनों परस्पर युद्ध में आ जुड़े फिर भी एक पक्ष बुराई के रास्ते पर था तो दूसरा भलाई की ओर जा रहा था। कौरवों की प्रत्येक चेष्टा में क्रूरता, छल, विशवासघात और गुरूद्रोह सरीखी बातें थीं किन्तु पाण्डवों में एक युधिष्ठिर की आज्ञानुसार चलना, विनय, सरलता, सत्यवादिता आदि गुण दिखाई पड़ते थे। अभिप्राय यह है कि वही कार्य यदि अपनी इन्द्रियाधीनता, शारीरिक आराम को

लक्ष्य में रखकर किया जाता है तो वहां मिथ्यात्व, पाप-पाखण्ड आ धमकता है, परन्तु उसी काम को कर्त्तव्य शीलता एवं परोपकार की भावना से करने पर उसमें धर्मिकता की पुट लग जाती है।

स्वयं सुखायैव पतिं गृहीतुमभिप्रवृता सुरसुन्दरी तु।
सिसेव च स्वामिनमन्तरब्दाच्छ्रीसुन्दरी सा मदनोपशब्दा॥४०॥

अन्वयार्थः- (सुरसुन्दरी स्वयं सुखाय एव पतिं गृहीतुम् अभिप्रवृत्ता।) सुरसुन्दरी तोअपने सुख के लिये ही पति को ग्रहण करने में अभिप्रवृत्त हुई। तु (किन्तु) मदनोपशब्दा (मदनसुन्दरी मैनासुन्दरीइत्यर्थः) स्वामिनं सिसेव। किन्तु मैनासुन्दरी ने तो (भाग्यलब्ध कोटी श्रीपाल नामक) स्वामी की सेवा की। अन्तः च (अन्तरात्मनि च परमात्मानं सिषेव, स्मरति स्मेति) और अन्तरंग में परमात्मा का स्मरण, सेवा करती थी। (ततः) अब्दात् सा श्रीसुन्दरी (धर्मार्थ कामसुन्दरी) (साच्चाता) इस कारण कालान्तर में वह सर्वजनादर्श स्वरूप हो गई॥४०॥

अर्थः- सुरसुन्दरी और मैनासुन्दरी-ये दोनों राजा पुष्पाल की कन्यायें थीं। सुरसुन्दरी बड़ी थी और मैना उससे छोटी। जब ये दोनों पढ़ने के योग्य हुई (तो सुरसुन्दरी बड़ी थी और मैना उससे छोटी) (जब ये दोनों पढ़ने के योग्य हुई) तो सुरसुन्दरी तो किसी भी पाण्डेजी के पास किन्तु मैना किसी आर्यिकाजी के पास विद्या पढ़ने के लिये रखी गई। तुक्मतासीर तो होती ही है किन्तु सोहबत का भी असर होता है, इस कहावत के अनुसार पढ़ने की योग्यता तो उन दोनों की अपनी अपनी थी ही, परन्तु जैसे उन्हें शिक्षा मिली, उसी ढांचे में उनका उपयोग ढल गया। सुरसुन्दरी को पाण्डेजी ने बतलाया कि जो कोई अपनी कोशिश से अपने आराम के साधन जुटाता है वह अपनी जिन्दगी अच्छी तरह से बिता सकता है। किन्तु मैना को समझाया गया थाकि माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बन्धु वगैरह का जो कुछ संयोग होता है वह जीव के पूर्वोपर्जित कर्मानुसार हुआ करता है। अतः उसमें उद्विग्न न होकर उनकी यथासाध्य सेवा करते हुए अपने कर्तव्य का पालन करते रहना चाहिये और परमात्मा का स्मरण करते हुए अपने उपयोग को निर्मल बनाना चाहिये ताकि आगे के लिए सब ठीक होता चला

जावे। सो सुरसुन्दरी ने तो अपने विचारानुसार किसी एक बड़े राजकुमार को अपने आप पति निर्वाचित करके उसके साथ विवाह किया किन्तु मैना का सम्बन्ध श्रीपाल कोढ़ी के साथ में किया गया। अब दोनों ही अपने-अपने पति को अपना पति समझती हैं फिर भी दोनों के विचारों में बड़ा अन्तर है। सुरसुन्दरी तो उसको अपने लिए सुख का साधन समझकर उसके साथ आराम भोगने लगी और उसमें इतनी अन्धी हो गई कि अपने धर्म-कर्त्तव्य से शून्य हो जाने के कारण एक दिन उसे भिखारिन बनना पड़ा । परन्तु मैना अपने आपको कष्ट में डालकर भी पति की सेवाकरना अपना कर्तव्य मानती हुई अपने अन्तरङ्ग में भगवान का स्मरण करते हुए विशुद्धभाव से श्रीपाल की सेवा करने लगी और अन्त में इस दुनियां के लोगोंके लिये आदर्श बन गई। मतलब यह है कि गृहस्थता के नाते एक-सा होकर भी मिथ्यादृष्टि जीवअपनी विपरीत समझके कारण उसमें फंसकर अपना पतन करता है खंकारमें पड़ी हुई मक्खी के समान किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव अपने सन्मनोभाव से यदि गृहस्थपने में भी होता है तो कालक्षेप जरूर करता है फिर भी फंसा नहीं रहताहै, बीच के स्टेशन पर खड़ी हो रहने वाली गाड़ी के समान; किन्तु जनसेवा का भाव लिये हुए सत्ता स्वीकारकरता है, सो आगे कहते हैं-

न तुङ् ममायं कुविधामनुस्या-देकेति बुद्धया सुतमत्र पुष्यात्।
परा तु तं मोदकरं विचार्याऽभिसन्निदध्यादिदमहुरार्याः ।।४१।।

अन्वयार्थः- मम अयं तुक् (पुत्रः) कुविधां न अनुस्यात् मेरा यह पुत्र पापमय बुरी आदत न अपनावे। अत्र एका (माता) इति बुद्धया सुतं पुष्यात् इस लोक में एक मातातो अपने पुत्र का ऐसी बुद्धि से (ऐसे विचारसे) पोषण करती है (तु परां तं मोदकरं विचार्य अभिसन्निदध्यात्) और दूसरी (माता एक ऐसीभी होती है जो) अपने पुत्र को प्रिय मोदकारी जानकर उसका पालन करती है । (आर्याःइदं आहुः) ऐसा आर्यजन कहते हैं।।४१।।

विशेषार्थः- यहां कर्मफलचेतना और कर्मचेतनारूप अज्ञानचेतना का प्रकरण चला आ रहा है सो वह दो प्रकार की होती है। एक शरीराश्रित दूसरी आत्माश्रित।शरीराश्रित

अज्ञानचेतना तो मिथ्यादृष्टि की होती है ओर आत्माश्रित अज्ञानचेतना सरागसम्यग्दृष्टि की। जैसे माता अपने बच्चे का पालन पोषण करती है तो उसका पालन करना माता का कार्य यानी कर्म हुआ और उसके पालन करने के बारे की जो बुद्धि- विचारविशेष, उसका नाम चेतना, वह दो प्रकार से होती है- एक तो यह कि यह बच्चा बड़ा खूबसूरत है, बड़ा सुहावना है, मुझे बड़ा प्यारा लगता है इस प्रकार के विचार को लेकर उसका पालन करना सो यह तो शरीराश्रित कर्मचेतना हुई क्योंकि इसमें उस बच्चे की आत्मा के हिताहित पर कोई विचार न होकर उसके शरीर की ओर का ही विचार होता है। वह जिस प्रकार हृष्ट-पुष्ट बना रहे, उसी की चेष्टा की जाती है। भले ही बच्चा बुरी आदतों में ही क्यों न पड़ जावे, उसे कुछ भी ताड़ना देने की तबियत नहीं होती। सो मोही जीव का ऐसा विचार खोटा है। बच्चे के प्रति माता की दूसरी विचारधारा यह हो सकती है कि "इस बच्चे की आत्मा ने तेरे उदर से शरीर धारण किया है, तू इसकी माता कहलाती है तो तेरा कर्तव्य है कि तू इसे ढंग से रखे ताकि यह कोई पापमय बुरी आदत न अपना पावे और मनुष्यता धारण कर अपना भला कर सके।" इस प्रकार के विचार से उस बच्चे की संभाल रखना सो आत्माश्रित कर्मचेतना है। यह चेतना सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जीव की होती है जिससे वह पुत्र-पालनरूप कार्य के द्वार पाप में न फंसकर पुण्य का कर्ता होता है। इसी तरह अन्य भी बातों में समझ लेना चाहिये जैसे कपड़े पहनना; एक तो अपने को आराम देने वाला समझकर यथावित्त अपने मन को भाने वाला अच्छे से अच्छा कपड़ा पहनता है भले ही वह सज्जनों की दृष्टि में उसके देशकालादि के विरूद्ध भी क्यों न हो ओर इसीलिये वह उसमें पापोपार्जन करता है परन्तु दूसरा आदमी सोचता है कि मैं अभी गृहस्थावस्था में हूं, मुझे वस्त्रविहीन रहना उचित नहीं, मुझे कपड़ा पहने रहने की ही गुरू-आज्ञा है तो वह अपने पद के योग्य सुघड़ वस्त्र पहनता है और अपना देवाराधनादि का काम निकलता है सो पुण्य कमाता है। इस प्रकार मिथ्यादृश्टि और सम्यग्दृष्टि के कार्यों में अन्तर होता है। सम्यग्दृष्टि की प्रत्येक चेष्टा सद्भावना को लेकर होती है अत: वह पापापहारक होकर पुण्यवर्द्धक हुआ करती है किन्तु मिथ्यादृष्टि की वही चेष्टा दुर्भावना को लिये हुए होने से पापमय होती है। मिथ्यादृष्टि जीव एक बार के लिये

त्याग करके निश्चेष्ट होकर निष्कर्मता की ओर भी आये तो भी वह पाप से मुक्त होकर धर्मात्मापने को प्राप्त नहीं होता, सो बताते हैं-

नाप्नोति धर्म बहिरात्मतातस्त्यक्त्वापि बाह्यान् विषयानिहातः।
धर्मात्मतां विज्ञ उपैति बाह्यत्यागातिगोऽपि क्षमतां विगाह्य ॥४२॥

यदृच्छायन्तः करणं हि जुष्टं, ग्रीष्मेण नग्नत्वमितः स दुष्टः।
कष्टं सहन् सभ्यतयैतिवासः, श्लाघ्यत्वमाप्नोति गृहीतदासः ॥४३॥

अन्वयार्थः- (ग्रीष्मेण नग्नत्वम् इतः स दुष्टः) जो गर्मी के कारण नग्नता को प्राप्त हुआ है वह दुष्ट है। (हि) क्योंकि (यदृच्छया अंतःकारणम् जुष्टम्) स्वेच्छाचारिता से उसका मन सेवित है। (यश्च) (कष्टं सहन्) और जो कष्टों को सहता हुआ (सभ्यतया वासः एति) सभ्यता से कपड़ों को पहने रहता है। (सः गृहीतदासः श्लाघ्यत्वम् आप्नोति) वही गृहीतदास प्रशंसा को प्राप्त होता है। अतः इसलिये इह इस संसार में (बाह्यान् विषयान् त्यक्त्वा अपि) बाह्य विषयों को छोड़कर भी (बहिरात्मतातः) बहिरात्मापन के कारण से धर्म न आप्नोति धर्म को प्राप्त नहीं करता। (विज्ञः क्षमतां विगाह्य) विज्ञ पुरूष क्षमता धारण कर (बाह्यत्यागातिगः अपि) बाह्य (चक्षुइन्द्रियगम्य) त्याग रहित होकर भी (धर्मात्मताम् उपैति) धर्मात्यापन को प्राप्त होता है ॥४२-४३॥

अर्थः- अर्थात् एक मनुष्य ने जेठ के महीने में गर्मी के मारे घबराकर अपने शरीर पर से तमाम कपड़े उतारकर फेंक दिये और नग्न हो गया, तो कोई भी उसे अच्छा नहीं बताता, उल्टा दुष्ट कहकर लोग उसका निरादर करते हैं क्योंकि यह उसकी यदृच्छा (मनमानी) वृत्ति है, उसका मन उसके वश में बिल्कुल नहीं है। हां, जो आदमी गृहस्थ होती हुए सभ्यता के नाते उस समय उस कड़ी उष्णता को सहन करते हुए भी कपड़े पहने रहता है, उसकी बड़ाई है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपने बहिरात्मपने से यदि इन बाहरी विषय भोगों को त्याग कर द्रव्यलिंगी मुनि भी बन जाता है तो भी वह धर्मात्मा नहीं हो पाता। हां, इसकी अपेक्षा वह धर्मात्मा होता है जो अव्रत सम्यग्दृष्टि है, देखने में किसी प्रकार का त्यागी नहीं है। खाना, पहनना,

स्त्री-प्रसंग करना वगैरह सभी तरह के कार्य करता है परन्तु अन्तरङ्ग में समता लिये हुए रहता है उचितपने से हटकर अनुचितपन की ओर कभी पैर नहीं रखता। वह इस प्रकार के धर्म का धारक होता है जिस धर्म से मिथ्यादृष्टि सर्वथा रहित होता है।

धर्मेण वै संध्रियतेऽत्रवस्तु, न वस्तुसत्त्वं तमृते समस्तु।
धर्मो न मिथ्यादृशि एतदुक्तिः किं स्यादितोदृक् क्रियते निरुक्तिः ॥४४॥

अन्वयार्थः- (अत्रैवैधर्मैण वस्तु सन्ध्रियते इस संसार में निश्चितरूप से धर्म से ही वस्तु (धर्मी) का ग्रहण होता है। तर्हि) तो तं ऋते उस धर्म के बिना वस्तु सत्त्वं न समस्तु वस्तु (धर्मी) का सत्त्व सम्भव नहीं हो सकता। ततः "मिथ्यादृशि धर्मो न" (अस्ति); इसलिये 'मिथ्यादृष्टि में धर्म ही नहीं है', एतत् उक्तिः किं स्यात् इति ईदृक् निरुक्तिः क्रियते यह कहना कैसे बन सकता है, इसका उत्तर दिया जाता है॥४४॥

अर्थः- शंकाकार कहता है कि धर्म का धर्मी के साथ में जब तादात्म्य संबंध होता है तो धर्म न होने से तो फिर धर्मी भी नहीं रह सकता, इसलिये मिथ्यादृष्टि की आत्मा में धर्म बिलकुल नहीं होता, यह कहना कैसे बन सकता है? इसका उत्तर इस प्रकार है-

नात्माऽस्य दृष्टौ भवतीति तावदन्यत्र चैतस्य किलात्मभावः।
अधर्मतामित्यत एति सत्यमसौ स्वीवात् सुतरां निपत्य॥४५॥

अन्वयार्थः- सत्यम् आपका कहना सत्य है। (परन्तु) अस्य दृष्टौ आत्मा न भवति इति तावत्, च एतस्य आत्मभावः किल अन्यत्र [शरीरे इति]; परन्तु इस मिथ्यात्वी की दृष्टि में आत्मा नहीं होती है और इस का आत्म भाव (आत्म बुद्धि) निश्चित रूप से शरीर में होती है। अतः असौ इस कारण यह स्वभावात् सुतरां निपत्य स्वभाव

से अच्छी तरह गिरकर-भ्रष्ट होकर अधर्मताम् एति इति अधर्मता को प्राप्त होता है।।४५।।

अर्थ:- अर्थात् धर्म के सर्वथा नहीं रहने पर तो धर्मी आत्मा का भी अभाव हो जाना चाहिये, ऐसा तुम्हारा कहना ठीक ही है। संसारी जीव की दृष्टि में आत्मा भी कहां है। इसकी समझ में तो आत्मा का अभाव ही है यह तो आत्म तत्त्व को स्वीकार ही नहीं करता।। यदि आत्मतत्त्व को मान लो तो मिथ्यादृष्टि ही क्यों रहे। यह तो आत्मशब्द का वाच्य इस शरीर को ही माने हुए है अत: स्वभाव से दूर जाकर यानी अपने धर्म से रहित होकर अधर्मी बन रहा है, यह बनी हुई बात है।

विश्वसमासाद्य जिनोक्तवाचि कालेन तत्त्वार्थमियादसाचि।
अंकीकृते धर्मिणि भातु धर्म: सूर्ये प्रकाश: स्फुरतीति मर्म: ।।२६।।

अन्वयार्थ:- जिनोक्तवाचि जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित वाणी में विश्वासम् आसाद्य विश्वास प्राप्त कर, कालेन तत्त्वार्थम् असाचि (अवक्रम्) इयात् (अवगच्छेत्) समय पाकर तत्त्वार्थ को अवक्र (समीचीनतया) जानले। धर्मिणि अङ्गीकृते धर्म: भातु धर्मी के अङ्गीकृत होने पर धर्म प्रकाशित होता है; जैसे सूर्य (सति) प्रकाश: स्फुरति, इति मर्म। सूर्य के उदित होने पर प्रकाश स्फुरायमान होता है, ऐसा मर्म है।।४६।।

अर्थ:- अर्थात् हां, यदि उस आत्मतत्त्व को जिन्होंने प्रस्फुटित कर लिया है ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान के कहने पर विश्वास लाये, उसे अपने मन मं धारण करे तो समय पाकर मोह गलने से उस आत्मतत्त्व का ठीक-ठीक मतलब इसकी समझ में आ सकता है। उसे यह हृदय से स्वीकार कर सकता है और जब आत्मतत्त्व स्वीकृत हो जाता है तो धार्मिक होने पर धर्म फिर सहज है। जहां सूर्य होता है, वहां प्रकाश अवश्य होता ही है। इतना ही इसका संक्षिप्त भाव है।

न काललब्धिर्भविनोऽस्ति गम्या क्षयोपशान्तिप्रभृतिं परं यान्।
जिनोक्ततत्त्वाध्ययने प्रयत्नं कुर्याद्यदिष्टप्रविधायि रत्नं।।४७।।

अन्वयार्थ:- काललब्धि: भविन: गम्या न अस्ति काललब्धि तो भव्य जीव

के गम्य (अनुभव का विषय) नहीं है। क्षयोपशान्तिप्रभृतिं परं यान् (गच्छन्) क्षयोपशमलब्धि प्रभृति आगे की लब्धियों की ओर जाता हुआ जिनोक्तत्त्वाध्ययने प्रयत्नं कुर्यात् (यह जीव) जिनेन्द्रभाषित तत्त्वों का अध्ययन करें, यत् (अध्ययनम्) इष्टप्रविधायि रत्नम् जो इष्ट को प्रदान करने वाला रत्न है॥४७॥

अर्थः- काललब्धि तो छद्मस्थ के ज्ञान से बाहर की चीज है, वह तो इसके अनुभव में आने वाली नहीं है और जब मनुष्य शरीर धारण किये हुए है तो जिनवाणी के सुनने एवं समझने की योग्यता अपने आप प्राप्त है। फिर अब कसर ही क्या है? नैय्या किनारे पर लगी हुई है, यह उठ कर छलांग मारे तो घाट पर आकर खड़ा हो सकता है। इसके करने का काम तो इसे ही करना चाहिये किन्तु यह तो प्रमादी हो रहा है। प्रथम तो जिनवाणी के सुनने का नाम भी इसे नहीं भाता। यदि कहीं सुनता भी है कि यह शरीरधारी जीव पराश्रय में फंसकर रागी-द्वेषी हो रहा है जिससे दुःखी है, यदि पराश्रय को छोड़ दे तो राग-द्वेष से भी रहित होकर शुद्ध सच्चिदानन्द बन सकता है। ऐसा! तो इसमें से पहले वाली बात को तो पकड़ लेता है कि हां जिनवाणी ठीक कहती है- मैं पराये वश हूं, इसलिये रञ्ज और गम की उलझन से दुःख पाता हूं, बिल्कुल सही बात है इत्यादि; किन्तु आगे वाली बात पर ध्यान नहीं देता, भुला ही देता है। याद भी रखता है तो कहता है कि पराश्रय छूटे तो सुख हो सो पराश्रय का छूटना मेरे हाथ की बात थोड़े ही है, पर की है, वह छोड़े तो मैं छूटूं। उदाहरण- एक बन्दर ने चनों के घड़े में अपने दोनों हाथ डाल दिये और चनों की मुट्ठियां भर कर निकालने लगा घड़े का मुंह छोटा होने से उसके हाथ फँस गये। वह सोचता है कि इस घड़े ने मुझे पकड़ लिया। दूसरा उदाहरण- किसी पागल ने कौतुक में आकर किसी खम्भे को अपनी भुजाओं में भर लिया, दोनों हाथों के कञ्च जोड़ लिये और कहता है कि मुझे खम्भे ने पकड़ लिया। बस, ऐसा ही इस संसारी का हाल है; परतन्त्रता की ओर ही तो झुकता है, स्वभाव का सम्मान इसकी बुद्धि में नहीं जम पाता। यह इसके अभ्यास का दोष है, क्योंकि-

यथाबलं बुद्धिरुदेतिजन्तोरज्जूवदस्योद्वलितुं समन्तोः।

तामस्तुवस्तुप्रतिपत्तिरेवसमाह सम्यग्जिनराजदेवः ॥४८॥

अन्वयार्थः- (अस्य समन्तोः सापराधस्य जन्तोः) इस अपराधी प्राणी की बुद्धिः यथाबलं उदेति बुद्धि यथाबल उदित होती है। तां उद्बलितुम उस बुद्धि को दूसरा बल देने के लिये (अर्थात् समीचीन दिशा की ओर परिणत करने के लिये) वस्तुप्रतिपत्तिः एव समा अस्तु, (इति) जिनराज देवः समयग् आह वस्तु प्रतिपत्ति ही उपयुक्त है, ऐसा जिनराज देव सम्यकृतया कहते हैं।।४८।।

अर्थः- रागद्वेष वाले इस संसारी जीव की बुद्धि एक रस्सी सरीखी है। रस्सी को जिधर का जैसा बल मिलता है, उधर की ही तरफ उसका घुमाव होता रहता है एवं पूर्व बल के अनुसार उधर की तरफ को उसका घुमाव एक अनायास सरीखा हो जाया करता है। फिर उसको यदि उलटना चाहें, उसमें दूसरा बल लाना चाहें, या उसे उधेड़ना भी चाहे तो वह कठिन सा हो जाता है। जरासी असावधानता में हाथ में से (रस्सी) छूट कर वापिस उधर को ही घूम जाया करती है, वैसे ही इस संसारी जीव की बुद्धि को अनादिकाल से पर परिणति का बल प्राप्त हो रहा है अतः उधर की तरफ का घुमाव इसके लिये एक सहज सा बन गया है। अब इसको बदल कर उसमें दूसरा बल यदि लाना चाहें, उसे स्वभाव की ओर घुमाना चाहें तो घुमाते-घुमाते भी खिसक कर अपने चिर अभ्यास के कारण वह पर-परिणति पर ही चल पड़ती है, सरल नहीं रहती है। अतः वस्तु स्वरूप के खूंटे में उसे अटका कर विचार-रूप हाथ में दृढ़ता के साथ थाम कर पुनः पुनः घुमाया जावे तो कहीं वह ठीक हो पाती है, ऐसा ही जिनेन्द्र भगवान का कहना है। मतलब उसको ठीक बनाने के लिये इस प्रकार तत्त्वाभ्यास के सिवाय और कोई साधन नहीं है।

जैनागम का अभ्यास करते-करते जो अपने श्रद्धान को तात्त्विक बना लेता है उसमें प्रशमादि गुण सहज हो जाते हैं, वह आगे बताते हैं -

तत्त्वार्थमाश्रद्दधतोऽमुकस्य, महाशयस्य प्रशमः प्रशस्यः।
ततः समस्ते जगतोऽर्थभारेऽनुद्विग्नताऽनिष्टसमिष्टसारे ॥४९॥

अन्वयार्थः- तत्त्वार्थम् अश्रद्दधतो अमुकस्य महाशयस्य प्रशमः प्रशस्यः तत्त्वार्थ का श्रद्धान करने वाले उस महानुभाव का प्रशम गुण प्रशंसनीय होता है। ततः (और) इसी कारण जगतः समस्ते अनिष्टसमिष्टसारे अर्थभारे अनुद्विग्नता प्रिय ओर अप्रिय ही हैं तत्त्व जिनमें ऐसे (मिथ्यात्वी जीव पर पदार्थ में प्रियाप्रियत्वरूप ही तत्त्व देखता हैं, परत्वरूप तत्त्व नहीं देखता; अतः उसकी दृष्टि में यह विशेषण लिखा है) जगत् के सभी पदार्थों में सम्यक्त्वी तो निर्भय हो जाता है-निश्चिन्त हो जाता है॥४९॥

अर्थः- अपने श्रद्धान को ठीक बना लेने पर एक तो उस महाशय के चित्त में प्रशम गुण स्फुरित हो जाता है जिससे इस दुनियां के सम्पूर्ण पदार्थों में से किसी को भला और किसी को बुरा मान कर वह भयभीत नहीं बनता है। यद्यपि चारित्रमोह के उदय से जबतक कर्मचेतना या कर्मफलचेतनामय प्रवृत होता हुआ बुद्धिपूर्वक किसी भी कार्य को करता है तो उसमें बाधक होने वाले पदार्थ से बच कर उसके साधक कारण-कलाप को अपनाये हुए रहता है, अपने अनुकूल निमित्त को इष्ट मानकर उसे प्राप्त करने और बनाये रखने की एवं प्रतिकूल निमित्त को दूर करने की चेष्टा भी करता है किन्तु पूर्व की तरह उन्हीं के पीछे नहीं लगा रहता है; जैसे कि सीता रामचन्द्र को बड़ी प्रिय थीं क्योंकि शील-सन्तोषादि फूलों की फुलवारी थी परन्तु जब उसकी वजह से भी अवर्णवाद होते पाया तो झट उसे भी जङ्गल की राह दिखाई। उस पर जरा भी जी नहीं लुभाया। वह उनके अन्तरङ्ग में होने वाले प्रशमगुण की ही तो महिमा थी।

युद्धादिकार्ये व्रजतोऽप्यमुष्य, संवेगभावो हृदयं प्रपुष्य।
प्रवर्तते तेन विवेकखानिरयं समायाति कुकर्महानिम्॥५०॥

अन्वयार्थः- [युद्धादिकार्ये अपि व्रजतः अमुश्य संवेगभाव (संसारकारणात् नित्य भीरूता संवेगः, तस्य भावः) हृदयं प्रपुष्य प्रवर्तते।] युद्धादि में जाते हुए भी उस सम्यक्त्वी महाशय का संवेगभाव हृदय को पोषित किये हुए रहता है। (तेन अयं विवेकखानिः कुकर्महानिम् समायाति प्राप्नोति) उस कारण विवेक की खान तुल्य यह (सम्यक्त्वी पुरूष) पापकर्मों की हानि को प्राप्त होता है॥५०॥

अर्थः-सम्यग्दृष्टि जीव के हृदय में संवेगभाव भी हर समय बना रहता है। दुनियादारी के कार्यों में अनुत्सुकता, उदासीपन रहे किन्तु धर्म के विषय में तत्परता होने को संवेग कहते हैं। सो यह गुण भी उसमें अखण्ड होता है जिससे अपनी तात्कालिक परिस्थिति के अनुसार भले ही उसे युद्धादि सरीखे कठोर कार्यों में प्रवृत होना पड़ें परन्तु वहां पर भी यह विचार से काम लेता है, उचितपन को छोड़कर अनुचितपन की तरफ कभी नहीं जाता हैं। देखो, महाभारत में कौरवों ने अनेक तरह के दुष्प्रहार किये, अभिमन्यु सरीखे बालक को विश्वास दिलाकर बुरी तरह से मार गिराया था, उन्हें परास्त कर डालने की अर्जुन की पूर्ण प्रतिज्ञा और अभिलाषा भी थी परन्तु जब गुरु द्रोणाचार्य उसके सम्मुख आ डटे और निर्दयता से उस पर प्रहार करने लगे तो आप ही तो उस प्रहार से बचने की चेष्टा करता था किन्तु द्रोणाचार्य पर बदले का प्रहार नहीं करता था। भले ही उसके ऐसा करने से द्रोण के बाणों से उसकी महती सेना नष्ट होती रही, उस क्षति को भी सहन करता रहा, परन्तु गुरुदेव पर हाथ चलाना मेरा कार्य नहीं, यह सोचते रह कर उसने द्रोण को बाण कभी नहीं मारा। मुझे तो मेरा कार्य सिद्ध करना है, कौरवों के पक्ष क निपात करना है, फिर चाहे वह गुरु हो या और कोई, ऐसा दुर्विचार कभी नहीं किया क्योंकि वह मानता था कि -

हानि-लाभ जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ।
तो फिर इस संसार में, क्यों कीजे दुर्वात॥

इस कहावत के अनुसार जो होना है सो होगा, हमें विजय मिलनी है सो मिलेगी ही और नहीं तो फिर हम कैसा भी क्यों न करें, कुछ नहीं होगा। सांसारिक कार्यों में तो प्रधान बल दैव का ही होता है, बन्दा तो अपने दो हाथ दिखाया करता है। देखो, रावण ने अपना उल्लू सीधा करने के लिये क्या कसर बाकी छोड़ी थी परन्तु उसका बल उसी को खा गया, उसी के चक्र ने उसका सिर काट डाला। सुभौम को उसके भाग्य ने साथ दिया तो परशुराम की भोजनशाला में उसके लिये दिया हुआ थाल ही सुदर्शनचक्र बन कर उसकी सहायता करने लगा और समुद्र के बीच में उसे एक व्यन्तर ने बात की बात में मार डाला। इत्यादि बातों से मानना पड़ता है कि मनुष्य का किया कुछ नहीं होता। फिर व्यर्थ के प्रलोभन में पड़कर कुकर्म क्यों किया

जावे। इसप्रकार सोचता हुआ वह सदा कर्त्तव्यपरायण बना रहता है तथा अपने ऊपर होने वाली आपत्ति को कुछ विचार न करके औरों को विपत्ति से मुक्त करने/रखने की चेष्टा करता है। देखो -

भवन्निजापत्तिषु वज्रतुल्यः, संजायतेऽसौ नवनीतमूल्यः।
दीनं दरिद्रं खलु दुःखिनं वाऽवलोक्य चित्ते करुणावलम्बात्॥५१॥

अन्वयार्थः- असौ निजापत्तिषु वज्रतुल्यः भवन् वह स्वयंपर आई आपत्ति में वज्रतुल्य होता हुआ चित्ते करुणावलम्बनात् हृदय में करुणा का अवलम्बन लेने से दीनं दरिद्रं वा दुःखिनम अवलोक्य नवनीतमूल्यः सञ्जायते। दीन, दरिद्र या दुःखी को देखकर मक्खन की भांति पिघल जाता है। (अयमेव तस्यानुकम्पा गुणः) यही उसका अनुकम्पा गुण है॥५१॥

अर्थः- जब धवल सेठ ने दिये हुए प्रलोभन से भाण्डों ने श्रीपाल को अपना भाई, बेटा बताकर गुणमाला के पिता को बरगला लिया तो राजा की आज्ञानुसार श्रीपाल निःसंकोच होकर शूली पर चढ़ने को चल दिये किन्तु जब सत्य बात प्रकट हुई और राजा ने अपनी आज्ञा बदल कर श्रीपाल के स्थान पर धवल सेठ को और उन भाण्डों को मार डालने के लिए कहा तो श्रीपाल ही दयार्द्र होकर राजा से कहने लगे कि ''राजन्! इन भाण्डों का तो दोष ही क्या है? ये बेचारे तो दीन, अनाथ हैं। इनका तो यह पेशा है और धवल सेठजी मेरे धर्मपिता हैं, इन्होंने तो मेरे लिये जो कुछ किया है, अच्छा ही किया है। यदि ये ऐसा न करते तो मेरा आपके साथ संबंध ही कैसे बनता।'' यों कहकर सबको बरी करा दिया सो बस, यही बात इस वृत्त में बतलाई गई है कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने आप पर आई हुई आपत्ति में तो वज्र की तरह कठोर बन जाता है, किन्तु दूसरों को दुःख संकट में पड़े देखकर मक्खन की भांति पिघल पड़ता है। यही उसका अनुकम्पागुण है, क्योंकि वह यह अच्छी तरह से जानता है कि यह शरीरधारी जीव अपने किये का फल आप ही पा लेता है।

यतः सदास्तिक्यमुदेतिचेतस्यमुष्य यादृग्भविना क्रियेत।
तदेव भुङ्क्तेऽत्त उदारबुद्ध्याऽर्हतोऽनुगत्वं कुरुते त्रिशुद्ध्या॥५२॥

अन्वयार्थः- (यादृक् भविना क्रियेत तदेव भुंक्ते) जो जैसा करता है वैसा स्वयं भरता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जानता है। (यतः सदा अमुष्य चेतसि ईदृशम् आस्तिक्यम् उदेति) क्योंकि उसके चित्त में ऐसा आस्तिक्य उतित रहता है (अतः) इस कारण (उदारबुद्ध्या) उदार विचारों के होने से (त्रिशुद्ध्या अर्हतः अनुगत्वम् कुरुते) मन-वचन-काय की शुद्धि के साथ श्री अर्हन्त का अनुयायी हो जाता है।

विशेषार्थः- सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि जो जैसा करता है वैसा स्वयं भरता है, जो जहर खाता है वही मरता है और जो मिश्री चखता है, उसका मुंह मीठा हो जाया करता है। दूसरा कोई किसी का क्या कर सकता है, कुछ नही; देखो-वैद्य सभी रोगियों को निरोग करना चाहता है, यह उसकी सद्भावना है, परन्तु रोगमुक्त होता है वही, जो कि अपने भविष्यत् सातोदय को लिये हुए होकर उसकी औषधि का ठीक सदुपयोग करता है। धीवर तालाब की सभी मछलियों को पकड़ना चाहता है, मगर पकड़ी वे ही जाती हैं, जो कि अपनी चपलता के कारण उसके जाल में आ गिरती हैं, वरना उसका प्रयोग व्यर्थ जाता है; फिर भी धीवर अपनी दुर्भावना से पाप का भार अपने सिर पर लेता है और उससे नरक में जाता है, जहां कष्ट पाता है। वैद्य अपनी सद्भावना के कारण स्वर्ग का भागी हो जाता है।

स्वर्ग, नरक एवं पुनर्जन्म भी अवश्य हैं क्योंकि एक माता-पिता के रजोवीर्य से पैदा होने वाले मनुष्यों में रावण और विभीषण का सा बहुत कुछ भेद देखने में आता है; बल्कि एक सहवास से और एक साथ में पैदा होने वाली सन्तानें भी एक स्वभाव वाली और एक सरीखी नहीं होतीं। इसमें उनका पुण्य-पाप ही तो कारण है और दूसरा क्या हो सकता है? जैसा कि एक दोहे में लिखा है -

अपनी करनी से बने, यह जन चोर विभोर।

उरझत सुरझत आप ही, ध्वजा पवन के जोर॥

मन्दिर के ऊपर होने वाली ध्वजा, हवा का निमित्त पाकर जिधर को झुकाव खाती है, उसी ओर होकर दण्डे में लिपट रहती है, कभी इधर से उधर तो कभी उधर से इधर और हवा जब कम हो जाती है या बन्द सी ही रहती है तब ध्वजा भी सरल सीधी हो लेती है तथा स्थिर हो जाया करती है; वैसे ही संसारी प्राणी का हाल है। जब बुरी वासना में पड़ता है तो अपने आप ही बुराइयों की ओर जाकर चोर, चुगलखोर बनते हुए आप ही कष्ट उठाता है और जब सद्भावना को लेकर भलाई करने में लगता है तो समाश्वासन प्राप्त करता है, किन्तु इससे भी जब आगे बढ़ता है तो बाह्या वासना से रहित होते हुए सिर्फ परमात्म अनुभवन में तल्लीन होकर अपने मन को स्थिर बना लेता है तो सदा के लिये निराकुल भी बन सकता है। इस प्रकार के सुविशद विचार का ही नाम आस्तिक्यभाव है जिसको लेकर आत्मा से परमात्मा बनने का अटल सिद्धान्त इसके हृदय में घर किये हुए रहता है ताकि यह अपने मन वचन और काय से सरलता के साथ श्री अर्हन्त भगवान का अनुयायी हो रहता है।

ध्यानादहोधर्ममयोरुधाम्न, उदेति वाऽज्ञाविचयादिनाम्नः।
सम्यग्दशो भावचतुष्कमेतत्, पर्येत्यमीषुस्फुटमस्य चेतः॥५३॥

अन्वयार्थः- (अहो! धर्ममयोरुधाम्नः आज्ञाविचयादिनाम्नः वा ध्यानात् सम्यग्दृशो भावचतुष्कम् एतत् उदेति) अरे! धर्ममय विस्तृत प्रकाशवाले और आज्ञाविचय आदि नाम वाले ध्यान से सम्यग्दृष्टि के यह भावचतुष्क-प्रशमादिक उदित होता है (अमीषु अस्य चेतः पर्येति, स्फुटम्) इन प्रशमादिक चारों भावों में इस सम्यग्दृष्टि का चित्त स्पष्टतः परिभ्रमण करता है, यह सत्य है॥५३॥

विशेषार्थः- सम्यग्दृष्टि जीव के उपर्युक्त प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चारों भावों का क्रमशः आज्ञाविचय, अपायविचय ओर संस्थानविचय नामक धर्मध्यानों

के साथ में कार्य-कारण सम्बन्ध है। आज्ञाविचयादि धर्मध्यान कारण रूप होता है और प्रशमादि भाव उसका कार्य, क्योंकि बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्ट कल्पना का न होना या कम से कम होना सो प्रशमभाव है जो कि श्री अरिहन्त भगवान की आज्ञानुसार न तो कोई पदार्थ इष्ट ही है और न अनिष्ट ही, इस प्रकार के विचार को लेकर प्रसूत होता है। विषय-भोगों मे अनुत्सेक भाव का होना सो संवेग है जो कि इन विषय-भोगों में फँस कर ही यह दुनियादारी का जीव अपना अपाय यानी बुरा करता है, बिगाड़ कर जाता है, इस प्रकार के धर्मध्यानमूलक होता है। किसी भी जीव को दुःख-संकट में पड़ा देखकर उसके उद्धार का भाव होना अनुकम्पाभाव है सो इसके पूर्व में ऐसे विचार का होना आवश्यक है कि देखो! यह अपने पापोदय से कैसा कष्ट में पड़ा हुआ है, ऐसे विचार का होना ही विपाकविचय धर्मध्यान है जिसके होने पर उसे उस कष्ट से मुक्त करने की चेष्टा की जाती है। संस्थानविचय तो पदार्थ के स्वरूप पर विचार करने का नाम है जो कि आस्तिक्यभाव का मूलाधार ही है। ये चारों ही भाव धर्मध्यानमूलक हुआ करते हैं जिनमें कि यह सम्यग्दृष्टि जीव परिवर्तित होता रहता है और जहां इनसे पार हुआ कि शुक्लध्यान में पहुंच जाता है, वहां इसका उपयोग बाह्यापदार्थालम्बन से रहित होता है यानी गृहस्थावस्था में जहां तक शारीरिक, वाचिक और मानसिक जरा-सा भी लगाव दुनियादारी में होने वाली आत्मेतर बातों के साथ रहता है तब तक शुक्लध्यान तो क्या धर्मध्यान की भी रूपातीतावस्था नहीं हो पाती क्योंकि उसके लिये सुदृढ़ मानसिक बल की आवश्यकता होती है जो गृहस्थावस्था में असम्भव है। अत: वहां पर सिर्फ संस्थानविचय के चार भेदों में से-पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ नाम धर्मध्यान ही यथा सम्भव हुआ करता है, ऐसा हमारे ध्यान-प्रतिपादक शास्त्रों में बतलाया गया है। किन्तु आर्त-रौद्र परिणामों को इसकी आत्मा में कभी अवसर ही नहीं मिल पाता जिससे भविष्य के लिये नरक और तिर्यक्पन का अभाव हो जाता है। यद्यपि हमारे आगम में बतलाया गया है कि आर्तध्यान छठे गुणस्थान के अन्त तक एवं रौद्रध्यान पंचम गुणस्थान में भी होता है, मगर वह भी धर्ममूलक ही होता है जैसे कि शूकर को सिंह पर प्रहार करते समय रौद्रध्यान था परन्तु वह

मुनिराज को बचाये रखने के लिये वैय्यावृत्त्यपरक था। तथा किसी चुगलखोर के कहने को सुनकर राजा ने राजमन्त्री से पूछा कि क्या तुम्हारे गुरु कोढ़ी हैं ? मन्त्री ने गुरुभक्ति में आकर कह दिया कि नहीं महाराज ! मुनिराज के कोढ़ का क्या काम। इस पर राजा ने कहा कि हम सवेरे ही उनके दर्शन करने को चलेंगे और अगर कहीं कोढ़ी निकले तो फिर उनका बहिष्कार करना होगा। इस पर मन्त्री को बड़ी भारी चिन्ता हुई कि हाय ! अब क्या किया जाय, मुनि महाराज पर सवेरा होते ही उपसर्ग आयेगा। यह कैसे दूर हो ? बस, तो सम्यग्दृष्टि जीव के जहाँ कहीं भी आर्त्तरौद्र परिणाम होते हैं, वे सब ऐसे ही सद्भावनात्मक होते हैं। मिथ्यादृष्टि की भांति एकांतरूप से अपने शरीर और इन्द्रियों के सन्तर्पणरूप दुर्भावना को लिये हुए कभी नहीं होते। अस्तु।

शङ्का - सम्यग्दृष्टि के प्रशमादि गुणों को आपने धर्मध्यान बतलाया सो हमारी समझ में नहीं आया, क्योंकि प्रशमादि भाव तो शुभरागरूप होते हैं, शुभराग को धर्म मानना तो भूल है। धर्म तो आत्मा के स्वभाव का नाम है, शुद्ध सहज वीतरागभाव का नाम है जिसका चिन्तन करना ही धर्मध्यान कहा जाना चाहिए।

समाधान - धर्म, आपके सहज शुद्ध पारिणामिकभाव का ही नाम न होकर भावमात्र का नाम धर्म है। धर्म, परिणाम, भाव, अवस्था, परिस्थिति, अन्त और तत्त्व ये शब्द एकार्थवाचक हैं। जीव के भाव संक्षेप में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इस तरह पांच भागों में विभक्त हैं जैसा कि श्री तत्त्वार्थसूत्र महासास्त्र में बतलाया हुआ है। इन पांचों तरह के भावों का अनुचिन्तन-मनन धर्मध्यान में हुआ करता है जैसे कि अपायविचय में उस जीव की गिरी हुई हालत का और विपाक विचय में कर्मों के फल का यानी औदयिकभाव का विचार रहता है। इसीप्रकार से और भी समझ लेना चाहिये।

शंङ्का - कानजी की (रामजी माणकचन्द दोसी द्वारा लिखित) तत्त्वार्थसुत्र

टीका में प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र की व्याख्या में पृष्ठ १५ पर लिखा है - 'ध्यान रहे कि सम्यग्दृष्टि जीव एसा कभी नहीं मानता कि शुभ राग से धर्म होता है या धर्म में सहायता मिलती है ।' एवं कानजी कहते हैं कि वीतरागता का नाम ही धर्म है, सरागता में धर्म मानना मिथ्या है ।

समाधान - भैय्याजी ! हमारे मान्य आचार्यों ने तो वीतरागता को ही धर्म न मानकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म बतलाया है जो सराग और वीतराग दोनों तरह का होता है । हां, यह बात दूसरी कि सराग धर्म यानी व्यवहार मोक्ष मार्ग जो है, वह साधन रूप होता है और वीतरागधर्म यानी निश्चय मोक्षमार्ग, उसके द्वारा साध्य अर्थात् सरागधर्म पूर्वज है तो वीतराग धर्म उसके उत्तरकाल में होने वाला है । दोनों में परस्पर कारण-कार्यभाव है, ऐसा हमारे इतर ग्रन्थ प्रणेता प्रामाणिक आचार्यों ने तो सभी ने लिखा है परन्तु परमाध्यात्मरस के रसैया श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी अपनी 'तत्त्वार्थसार' नामक कृति में ऐसा ही लिखा है -

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्, द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२॥

आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जिसका 'तत्त्वार्थसूत्र' में वर्णन किया गया है और जिसका पुनरुद्धार इस 'तत्त्वार्थसार' में किया गया है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग (धर्म) जो है सो निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का होता है । निश्चय मोक्षमार्ग तो साध्य यानी प्राप्त करने के योग्य 'तत्त्वार्थसार' के प्रारम्भ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का लक्षण भी इस प्रकार लिखा है -

श्रद्धानं दर्शनं सम्यग्, ज्ञानं स्यादवबोधनम् ।
उपेक्षणं तु चारित्रं, तत्त्वार्थानां सुनिश्चितम् ॥४॥

अर्थात् तत्त्वार्थ का ठीक-ठीक श्रद्धान होना, सो सम्यग्दर्शन, तत्त्वार्थों का जानना

सो सम्यग्ज्ञान और रागादि भावों के प्रति उपेक्षाभाव का होना, सो सम्यक्चारित्र है। मतलब आचार्यश्री बतला रहे हैं कि 'तत्त्वार्थश्रद्धान' यह लक्षण न तो सिर्फ व्यवहार सम्यग्दर्शन का ही लक्षण है और न वह अकेले निश्चय सम्यग्दर्शन का ही, किन्तु यह लक्षण निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन का व्यापक लक्षण है। इसी प्रकार तत्त्वार्थों का ठीक जानना दोनों प्रकार के सम्यग्ज्ञान का और उपेक्षा करना दोनों तरह के सम्यक्चारित्र का अब इस पर यह जानने की उत्कण्ठा हो जाती है कि तो फिर निश्चय और व्यवहार यह भेद क्यों और कैसे? इस पर लिखा है -

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा, मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥३॥

अर्थात् अपनी शुद्धात्मा के साथ एकता तन्मयता लिये हुए तत्त्वों का श्रद्धान रखना, जानना और उपेक्षा करना रूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का होना सो निश्चय मोक्षमार्ग है, किन्तु इससे पहले -

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः याः पुनः स्युः परात्मनाम्।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा, स मार्गो व्यवहारतः ॥४॥

भिन्नरूप से सातों तत्त्वों का श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षणरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र होता है। वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। मतलब यह हुआ कि जब तक यह प्राणी जीवादि सातों तत्त्वों को अपने उपयोग में जमा किये हुए रखकर उनके श्रद्धान, ज्ञानपूर्वक रागादि से उपेक्षा धारण करता है तो वहां और भी कहीं नहीं तो अपने आप (आत्मद्रव्य) में उपादेय बुद्धि बनी हुई रहती है जो कि रागाँशमय होती है अतः वहां तक की इसकी चेष्टा को व्यवहार धर्म या मोक्षमार्ग कहा जाता है परन्तु इससे आगे चल कर जहां पर अपनी शुद्धात्मामय ही उपेक्षण (चारित्र) हो जाता है यानी आत्मा पर की भी उपादेय बुद्धिरूप सविकल्प दशा दूर होकर पूर्ण वीतरागरूप शुद्ध दशा हो लेती है उस अवस्था का नाम निश्चय मोक्षमार्ग है, जहां पर कि दर्शनमोह की भांति चारित्रमोह भी नष्ट होकर अभिन्न रत्नत्रय हो जाता है जैसा कि इस श्लोक में कहा है -

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः।
स्वस्थो दर्शनचारित्र-मोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥७॥

तथा 'तत्त्वार्थसूत्र' महाशास्त्र में श्री उमास्वामी आचार्य ने छठे अध्याय में भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोग: क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥; सरागसंयमसंयमासंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य ॥२०॥ सम्यक्त्वं च ॥२१॥ इन सूत्रों में बिल्कुल स्पष्ट कर रखा है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप धर्म सराग भी होता है और वीतराग भी। सो वीतराग धर्म तो सर्वथा अबन्ध कर होता है किन्तु सराग धर्म की अवस्था में घोर पूर्वबन्ध का अभाव होकर आगे के लिए प्रशस्त स्वल्पबन्ध होता है जो कि मुक्ति का अविरोधी, सहायक कारण होता है और ऐसा ही स्वयं श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने भी श्री प्रवचनसार में लिखा है -

संपज्जदि-णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥५॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन और ज्ञान सहित होने वाले चारित्रगुण के द्वारा इस जीव को देव, विद्याधा और भूमिगोचरियों के राज्य-वैभव के साथ-साथ निर्वाण-सुख की प्राप्ति होती है। यानी सम्यग्दर्शनज्ञान सहित चारित्ररूप जो धर्म है, वह दो प्रकार का होता है, एक सराग और दूसरा विराग। उसमें सरागधर्म से अशुभ बन्ध का अभाव होकर प्रशस्त शुभबन्ध होता है ताकि यह जीव इन्द्र, तीर्थकर, चक्रवर्ती सदृश पद पाकर फिर निर्वाणपद प्राप्त करने का पात्र होता है ओर वीतराग धर्म से तो उसी भव में मुक्त हो लेता है जैसा कि तात्पर्यवृत्ति में लिखा है-आत्माधीनज्ञानसुखस्वभावे शुद्धात्मद्रव्ये यन्निश्चलनिर्विकारानुभूतिरूपमवस्थानं तल्लक्षणनिश्चयचारित्राज्जीव स्य सम्पद्यते पराधीनेन्द्रियजनितज्ञानसुखविलक्षणं स्वाधीनातीन्द्रियरूपपरमज्ञानसुखलक्षणं निर्वाणम्। सरागचरित्रात् पुनर्देवासुरमनुष्यराज्यविभवजनको मुख्यवृत्त्या विशिष्टपुण्यबंधो भवति परम्परया निर्वाणं चेति।

इसके अलावा यदि वीतरागता को ही धर्म कहा जावेगा तो फिर दसवें गुणस्थान

तक के सभी जीव धर्मशून्य ठहरेंगे किन्तु धर्म का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से ही हो लेता है।

शङ्का- चतुर्थादि गुणस्थानों में भी आत्मा के जितने-जितने अंश में वीतरागता हो लेती है, उतने-उतने अंश में वहां भी धर्म होता है और जितने-जितने अंश में राग रहता है, उतने अंश में अधर्म, इसमे क्या बात है?

समाधान- तो फिर जहां पर राग है वहां (उसी आत्मा में) धर्म भी तो हो गया। एवं दोनों का एक साथ एक आत्मा में रहना ही सहायता या मैत्री कहलाती है जैसा कि स्वयं कुन्दकुन्दस्वामी ने अपने प्रवचनसार में बतलाया है। यानी जहां तीव्र (अशुभ) अनन्तानुबन्धीरूप राग होगा, वहां सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म नहीं हो सकता क्योंकि तीव्र रागभाव के साथ उसका विरोध है, किन्तु जहां मन्दराग होता है, वहां व्यवहार धर्म भी होता है जैसा कि तुम भी कह रहे हो। अब रही जितने-जितने अंश की बात सो आत्मा के अंश यानी प्रदेश असंख्यात हैं, उनमें से कुछ प्रदेशों में से तो राग नष्ट हो जावे और कुछ प्रदेशों में राग वैसे का वैसा ही बना रहे, ऐसा तो हो नहीं सकता किन्तु आत्मा में जो राग यानी कषायभाव था, उसमें से कुछ कम हो गया, वह जो पहले (मिथ्यात्वदशा में) गहरा था, जोरदार था सो इस सम्यक्त्व दशा में हल्का हो गया, वह हल्का राग आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में है ओर उसी मन्दराग या प्रशस्त (शुभ) राग का नाम वीतरागता होकर वह धर्म होता है। जैसे कि कोई कपड़ा गहरा हल्दिया था, उस पर सूर्य की घाम (धूप) लग कर, उसका गहरापन हट गया ओर हल्का पीला रह गया तो जिसका ख्याल गहरे रंग की तरफ हो जाता है, वह तो कहता है कि अरे! इसका तो रंग उड़ गया, यह तो बिरंगा हो गया परन्तु जिसका विचार पीलेपन मात्र पर है वह कहता है कि नहीं, रंग कहां उड़ गया, अब भी तो इसमें जरदी (पीलापन) है।

किञ्च, एक गृहस्थ बाजार से गेहूं खरीद करके लाया, जिनमें मोटे और महीन कई तरह के बहुत कंकर थे, उनमें से कंकरों को चुना जाने लगा तो मोटे-मोटे कंकरों को झट निकाल बाहर कर दिया गया। अब जो बुड्ढा था जिसकी नजर कमजोर

थी वह तो बोला कि अब तो गेहूं कंकर रहित हो गये, परन्तु जवान आदमी जिसकी नजर तेज थी, वह बोला कि नहीं, अब भी इनमें कंकर हैं। बस, इसी प्रकार स्थूल दृष्टि से तो चतुर्थादि गुणस्थानों में अनन्ताबन्ध्यादि कषाय न होने से राग का अभाव होता है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अप्रत्याख्यानावरणादि कषाय होती है अत: वहीं रागभाव भी होता है। अब इस मन्दराग (शुभराग) को धर्म मानना या सरागता में धर्म मानना मिथ्या कैसे हुआ? सही ही तो रहा। हां, वह धर्म पर्याप्त न होकर अपर्याप्त होता है अत: सर्वथा अबन्ध न होकर प्रशस्त बन्धविधायक हुआ करता है। इस बात को बताने के लिये ही इसे व्यवहार धर्म कहा जाता है जो निश्चयधर्म का कारण होता है। ऐसा न मानकर राग को ही धर्म मान लेना सो अवश्य मिथ्यात्व है क्योंकि जो राग का धर्म मानेगा वह तो राग को ही वृद्धि करने में यत्न करेगा। इस प्रकार से वह अपना बिगाड़ कर जावेगा परन्तु तीव्रराग की अपेक्षा से मन्दराग को धर्म मानने में यह बात नहीं है, वहां तो यह दृष्टि होती है कि तीव्र के स्थान पर मन्दराग जब धर्म है तो अति मन्दराग और भी अधिक धर्म हुआ तथा राग का बिल्कुल न होना सो पूर्ण धर्म हुआ। तीव्रराग की अपेक्षा से मन्दराग को धर्म मानने वाला धीरे-धीरे अपने राग को सर्वथा हटा कर पूर्ण धर्मात्मा बन जाता है। और इसलिये मन्दरागरूप व्यवहार धर्म को निश्चयधर्म का करण कहा गया है।

शङ्का- इस तरह से भी निश्चय मोक्षमार्ग का कारण व्यवहार मोक्षमार्ग न होकर व्यवहार मोक्षमार्ग का नाश उस (निश्चय मोक्षमार्ग) क कारण ठहरता है। (देखो-कानजी (रामजी माणेकचन्द) कृत तत्त्वार्थसूत्र टीका का अन्ति परिशिष्ट, पृ० ८०७ की पंक्ति १३ से आगे)।

समाधान- भैय्याजी! जरा सोचो तो सही क्या कर रहे हो तुम! तुम तो खुद ही समझदार हो, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि व्यवहारधर्म का प्रध्वंस और निश्चयधर्म का होना ये दोनों भिन्न-भिन्न नहीं होते। अगर भिन्न माना जाऐं तो फिर वह नाश क्या चील रही! कुछ नहीं। एवं तुच्छाभाव की तो जैनशासन में बिल्कुल मान्यता है नहीं। ऐसा तो नैयायिक मानते हैं। जैनमत यह कहता है कि पूर्व (कारणरूप) अवस्था

का नाश ही उत्तर (कार्यरूप) अवस्था का होना है; जैसा कि श्री समंतभद्राचार्य ने 'देवागमस्तोत्र' के 'कार्योत्पाद:क्षयोहेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक्' इस सूक्त में स्पष्ट कहा है। जैसे कि मिट्टी की स्थासरूप पर्याय का विध्वंस ही कोशपर्याय का उत्पाद कोशपर्याय का विध्वंस ही कुशूलपर्याय का उत्पाद और कुशूलपर्याय का विनाश ही तदुत्तर घटपर्याय का उत्पाद है, दोनों एककालीन हैं, उनमें कोई समयभेद नहीं होता। इनमें पूर्व-पूर्व अवस्था कारण और उत्तरोत्तर अवस्था उसका कार्य है वैसे ही व्यवहारधर्म का विध्वंस यानी पूर्ण होना ही निश्चय धर्म का होना है अत: व्यवहारधर्म कारण है तो निश्चयधर्म उसका कार्य जैसा कि हमारे पूर्वाचार्यों ने जगह-जगह बतलाया है।

शङ्का- श्री 'परमात्मप्रकाश' की संस्कृत टीका में पृष्ठ १४२ पर इस प्रकार प्रश्न उठाकर कि निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है और उस समय सविकल्प मोक्षमार्ग है नहीं तो वह (सविकल्प मोक्षमार्ग) साधक कैसे हुआ? इसके उत्तर मे बतलाया है कि भूतनैगमनय की अपेक्षा से परम्परा में साधक होता है। अर्थात् पहले वह था किन्तु वर्तमान में नहीं है तथापि भूतनैगमनय से वह है ऐसा संकल्प करके उसे साधक कहा है, यों लिखा है।

समाधान- भैय्याजी! वहां अगर यह लिखा है तो ठीक ही तो लिखा है क्योंकि १-मोक्ष, २-निश्चय मोक्षमार्ग और ३-व्यवहार मोक्षमार्ग इस प्रकार तीन बातें हुईं। सो व्यवहार मोक्षमार्ग तो निश्चय मोक्षमार्ग का कारण है और निश्चय मोक्षमार्ग मोक्ष का कारण। अब व्यवहार मोक्षमार्ग को मोक्ष का जो कारण बताया जाय तो वह मोक्ष का तो परम्परा कारण ही है। साक्षात् कारण तो वह (व्यवहारमोक्षमार्ग) निश्चय मोक्षमार्ग का होता है, जैसा कि तत्त्वार्थसारकार श्री अमृतचन्द्राचार्य लिख रहे हैं।

शंङ्का:- आपने ऊपर जो व्यवहार धर्म और मन्दराग को एक बतलाया सो कैसे? क्योंकि धर्म तो सम्यग्दर्शनादिरूप है जो औपशमिकादि भावमय होता है और राग है सो औदयिकभाव है।

समाधान:- तुम्हारा कहना ठीक है। राग औदयिक ही होता है और सम्यग्दर्शनादि

धर्म उससे विरुद्ध औपशमिकादिभावरूप, मगर मन्दराग जो होता है वह औपशमिकादिभावरूपता को एवं औदयिकपन का भी लिये हुए उभयरूप होता है। राग में जो मन्दता होती है वह उपशमादि द्वारा ही तो आती हैं, अन्यथा कैसे आ सकती है। इस प्रकार राग और धर्म एक साथ होते हैं उसी का नाम सरागधर्म या व्यवहारधर्म है, उसके साथ चित्तकी उपयोगरूप लग्न होती है उसे धर्मध्यान कहते हैं।

शंका:- आप तो कहते हैं कि धर्मध्यान में यथासम्भव औदयिकादि पांचों भावों का ही चिन्तवन होता है किन्तु समयसारजी की जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति में लिखा है कि औपशमिकादिरूप अशुद्ध पारिणामिकभाव तो ध्यानरूप होता है तथा शुद्ध पारिणामिकभाव ध्येय। (गा० ३२० की वृत्ति)।

समाधान:- वहां जो लिखा गया है वह शुक्लध्यान को लक्ष्य करके उसके विषय में लिखा गया है। धर्मध्यान में तो सभी भाव ध्येय होते हैं। देखो-श्री चामुण्डरायकृत चारित्रसार में लिखा है कि आज्ञाविचय धर्मध्यान में गति आदि चौदह मार्गणाओं द्वारा तथा चौदह गुणस्थानों द्वारा जीव का चिन्तन जैनागमानुसार किया जाता है। तथा द्वादशानुप्रेक्षारूप संस्थानविचय धर्मध्यान में भी पांचो ही भावों का चिन्तन यथास्थान होता है अत: मानना ही चाहिए कि जो धर्मध्यान होता है, वह औपशमिकादि सभी भावों के विचारों को विषय करके प्रसूत होता है। वह धर्मध्यान चतुर्थादि गुणस्थानों में होकर प्रशम-संवेगादि सद्भावों को प्रस्फुट करने वाला होता है एवं सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व को इतर छद्मस्थ लोग इन प्रशमादि भावों के द्वारा ही जान सकते हैं।

सम्यक्त्वमव्यक्तमपीत्युदारै:,व्यक्तीभवत्येव जगत्सुसारै:।
अष्टाविहांगानि भवन्ति तस्य, समुच्यते यानि मया समयस्य।।५४।।

अन्वयार्थ:- (इत्युक्तम् सम्यक्त्वम् अव्यक्तम् अपि) इस प्रकार कथित सम्यग्दर्शन अव्यक्त-नहीं दिखाने योग्य है, फिर भी (उदारै: जगत्सुसारै:एव व्यक्ती भवति) उदारतारूप-विशालतामय और जगत् में सारमय प्रशमादिक भावों से ही व्यक्त भी होता है। (तस्य अष्टौ अङ्गानि भवन्ति) उसके आठ अङ्ग होते है। (तानि मया इहं समयस्य

समुच्यन्ते) वे मेरे द्वारा यहां पर संक्षेप में कहे जाते हैं।५४॥

विशेषार्थ:- सम्यग्दर्शन आत्मा का परिणाम है। यह उत्पन्न होकर भी आत्मा में अव्यक्तरूप रहता है, सर्वसाधारण की दृष्टि में आने की यह चीज नहीं है। किन्तु पूर्वकथित प्रशमादिभाव जो उदारता रूप होते हैं। उनसे हम उसको पहिचान सकते हैं। जैसे रसोईघर में छिपी हुई अग्नि को, उसमें से होकर ऊपर आकाश में फैलने वाली धुआं के सहारे जान लिया जाता है। यद्यपि प्रशमादिभाव नाम मात्र के लिये कभी-कभी मिथ्यादृष्टि में भी हो जाया करते हैं किन्तु वे सब और ही तरह के होते हैं जैसे कि वामी से उठने वाली धूसर, धुआं सरीखी होकर भी धुआं की बराबरी नहीं कर सकती, जरा भी गौर करने पर उसमें स्पष्ट भेद दिखाई पड़ जाता है अत: समझदार आदमी भ्रम में नहीं पड़ सकता तथा नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टित्व, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ भाव और होते हैं जो सम्यग्दर्शन के अङ्ग कहलाते हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन क्रमशा: किया जायेगा। जैसे कि मनुष्य-शरीर में सिर, हाथ, पैर, वगैरह अवयव होते हैं वैसे ही सम्यग्दर्शन के ये आठ अङ्ग होते हैं जो सम्यग्दर्शन से कदाचित् भेद लिये हुए होते हैं। सो किसी मनुष्य के अगर हाथ कट गये या पैर टूट गये तो वह बिल्कुल नष्ट हो जाता हो सो बात नहीं है, मगर बेकार जरूर हो जाता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि के भी इन अङ्गों में से कभी किसी में कोई कभी भी रह जाती है एवं किसी का कोई अङ्ग खासतौर से पुष्टि पा जाता है जिसे लेकर उसके गीत गाये जाता करते हैं। अस्तु! इनमें से सबसे पहला अङ्ग नि:शंकित है जो शरीर के ही समान है। उसका स्वरूप यह है-

मतं जिनोक्तं च परोदितंच, समानमेवेति मतिप्रपंच:।
कदापि नैतस्य सुवर्णरीत्यात्मता तु संविन्निकषप्रतीत्या॥५५॥

अन्वयार्थ:- (जिनोक्तं मतं च परोदितं च समानम् एव) जिनोक्त मत और अन्य द्वारा प्रतिपादित मत समान ही है (इति मतिमप्रपंच:एतस्य सम्यग्दृष्टे: कदापि न) इस प्रकार का मतिप्रपंच इस सम्यग्दृष्टि जीव के कदापि नहीं होता है। (तु एतस्य संविन्निकषप्रतीत्या सुवर्णरीत्यात्मता) सम्यक्त्वी जीव अपनी बुद्धरूपी कसौटी पर कस

कर सोने और पीतल के भेदरूप प्रतीति के समान भेद-जैनमत व इतर में पहिचान जाता है।।५५।।

विशेषार्थः- जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मत भी एक मत है जैसे कि इस भूतल पर और भी अनेक मत हैं। उनमें कही गई सभी बातें बिल्कुल ही मिथ्या हों सो बात नहीं तथा जैनमत में कथित सभी बातें सोलहों आने सही ही हों, सो भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के विचार का नाम शंका दोष है। यह सम्यग्दृष्टि के अन्तरङ्ग में कभी नहीं हो सकता क्योंकि वह यह अच्छी तरह जानता है कि जैनमत सर्वज्ञप्रणीत है, उसमें भूल के लिये जगह कहां? जबकि शेष मत अल्पज्ञों के द्वारा अपने-अपने अन्दाज पर खड़े किये हुए हैं, वहां पर सत्य का लेन-देन क्या और यदि जैनधर्म से मिलती हुई बात घुणाक्षर न्याय से वहां कहीं आ भी गई तो उसका वहां मूल्य भी क्या है, कुछ नहीं। अतः जैनमत और इतर मतों में परस्पर इतना अन्तर है जितना सोने और पीतल में होता है। हां, यह भले ही कहा जा सकता है कि वर्तमान में जैनग्रन्थों के नाम से कहे जाने वाले कुछ शास्त्रों में कितनी ही परस्पर विरूद्ध ऐसी बेतुकी बातें हैं जिनसे कि दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसा जटिल भेद खड़ा हो रहा है परन्तु सम्यग्दृष्टिजीव अपनी बुद्धरूपी कसौटी पर कस कर उसमें से भी खरे और खोटे की पहचान सहज में कर सकता है।

आगे नि-कांक्षित अङ्ग का कथन करते है-

अपथ्यवद् दुःखविधेरपेतुं,लग्नः सुखे चागदतां समेतुम्।
सांसारिके रुग्ण इवायमार्यःप्रवर्तते दौस्थ्यमियद्विचार्य।।५६।।

अन्वयार्थः- (अपथ्यवद्) अपथ्य के समान (दुःखोविधेःअपेतुम् अगदतां च समेतुं) दुःखविधि से दूर होने के लिये और नीरोगताप्राप्त करने के लिये (सांसारिकेसुखे लगनःप्रवर्तते) सांसारिक सुख में लगंन होताहुआ यह मिथ्यादृष्टि प्रवृत्ति करताहै।(अयं आर्यःइयत् दोःस्थयं विचार्य रुग्णःइव प्रवर्तते) परन्तु यह आर्य पुरूष इतनी पीड़ा मन में विचार कर रुग्ण के समान-रोग निवारण के लिये औषधि सेवन के समान भोगादि सेवनरूप प्रवृत्ति करता है।।५६।।

विशेषार्थ:- कांक्षा के न होने के नाम निःकांक्षित अङ्ग है। भोग ही सुख देने वाले हैं, ऐसा सोचकर उनके पीछे पड़े रहना सो कांक्षा कहलाती है। मिथ्यादृष्टि जीव मानता है कि इन भोगों में ही सुख है अत: वह खाने, पीने, सोने वगैरह में ही जी-जान से जुटा रहता है, पाप-पाखण्ड करके भी उनकी पूर्ति करनाचाहता है- जिससे कि अपथ्यसेवी रोगी की भांति सुखी न होकर उलटा दु:खी ही होता है। हां, यदि सयाना रोगी होता है तो वह अपथि सेवन से दूर रह कर वर्तमान शान्ति के लिये बाहरीउपचार करता है जैसे कि कोई खुजली वाला आदमी नमक, खटाई, मिची, तेल, गूड़ वगैरह जैसी खून खराबी वाली चीजों से दूर रहकर कपूर मिलानारियल का तेल मालिश करता है तो धीरे-धीरे नीरोग भी बन जाता है। वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव, चरित्रमोह की बाधा को न सह सकने के कारण उसके प्रतीकारस्वरूप समुचित भोग भी भोगता है परन्तु वह जानताहै कि इन विषय-भोगों में सुख नहीं, सुख तो मेरी आत्मा का गुण है जो कि मेरी दुर्वासना से दु:खरूप में परिणत होताहुआ प्रतीत हो रहा है अत: वह पापवृत्ति से दूर रहता है एवं धीर-धीरे नीराग होते हुए अन्तमें विषय-भोगों सेविरक्त होकर पूर्ण स्वस्थ्य हो जाता है। अथवा यों कहो कि व्यर्थ की अभिलाषा करना आकांक्षा है। जैसे रात्रि में आदमी को लिखा-पढ़ी का कार्य करना होता है तो दीपक जलाकर प्रकाश कर लेता है एवंअपना काम निकलता है: जहां सवेरा हुआ, सूर्य उगा, स्वत: प्रकाश हो गया तो दीपक को व्यर्थ मानकर बुझा देता है५। फिर भी काई भोला बालक अगर रोने लगे कि दीपक को क्यों बुझा दिया, जलने देना था तो यह उसका रोना किस काम का है, केवल भूल भरा बालकपन है५। बस, ऐसे ही गृहस्थ अवस्था में तो समुचित कपड़े पहनना, धनार्जन करना इत्यादि बातों के सहारे से ही अपने उपयोग को निर्मल किया करता है परन्तु त्यागवृत्ति पर आकर भी उन्हीं बातों की अभिलाषा को लिये रहना, निदान करना भूल है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा कभी नहीं करता अत: वह नि:कांक्षित होता है।

अब निर्विचिकित्सा अङ्ग का वर्णनकरते हैं-

न धर्मिणो देहमिदं विकारि,दृष्ट्वा भवेदेष घृणाधिकारी।

गुणानुरागात्तु कतोतु वैय्यावृत्तयप्रणीतिं रुचयेऽस्तु वैया ॥५७॥

अन्वयार्थः- (एषःधर्मिणो इदं विकारिदेहं दृष्ट्वा) **यह सम्यक्त्वी धर्मी के इस** विकारीदेह को देखकर (घृणाधिकारी न भवेत्) घृणाधिकारी नहीं होता। (तुगुणानुरागात् वैयावृत्तयप्रणीतिं करोतु) गुणानुराग से वैयावृत्ति करताहै (अस्य वैया रुचये अस्तु) इसकी वैयावृत्ति रूचि के लिये यानी धार्मिक रूचिको पुष्ट बनाने के लिये है ॥५७॥

विशेषार्थः- मिथ्यादृष्टि जीव अपने शरीर की विष्टावगैर को देखकरतो नहीं मगर दूसरों की विष्टा वगैरह कोदेखकर नाक-भौं सिकोड़ने लगता है, यह नहीं सोचता कि इसमें घृणा करनेकी कौनसी बात है? जैसा शरीर इनका है वैसाही तो मेरा भी है। परन्तु अपनीतो विष्टा भी चन्दन ओर दूसरे का खकार भी विकार, ऐसे विचार को लेकर वह अपने सिवाय औरों से मुँह मोडकर चलताहै। परंतु सम्यग्दृष्टि सोचता है कि शरीरका तो परिणमन ही ऐसा है, यह मल से ही तो उपजा है ओर निरन्तर मल को ही बहाताभी रहता है फिरइनका शरीर अगर मलिन है तो इसमें कौनसी नयी बात है- इनकी आत्मातो बही सम्यग्दर्शनादिरूपधर्मयुक्त है। ऐसे विचार से वह धर्मात्मा जीवों की वैयावृत्य करने में संलग्न होता है और धर्म के प्रति होने वाली अपनी रूचि को पुष्ट बनाता है।

आगे अमूढदृष्टि अग का वर्णन किया जाता है-

न मोहमायाति कुयुक्तिभिर्यः, पृथग्जनानामुपत्तिवीर्यः।
सर्वत्र देवागमगुर्वभिज्ञः, सदैव भूत्वा गुणतो नतिज्ञः ॥५८॥

अन्वयार्थः- (सर्वत्र सदैव यः) सब स्थानों पर और नित्य ही जो (देवा-गमगुर्वभिज्ञः) देव, शास्त्रव साधु के स्वरूपको जानने वाला (सन्) होता हुआ (उपपत्तिवीर्यः) लब्धवीर्य-परिपक्व बोधशक्ति से सम्पन्न होता हुआ (गुणतो नतिज्ञःभूत्वा) तथा गुणों के अनुसार विनय करनेवाला होकर वह सम्यक्त्वी पुरूष (पृथग्ज नानां कुयुक्तिभिः मोहं न आयाति) भिन्न-मतानुयायी लोगों की कुयुक्तियों से मोहमूढ़ता को प्राप्त नहीं हो जाता ॥५८॥

विशेषार्थ- जोदेव यानीपरमात्मा, आगम यानीनिर्दोष शिक्षण और गुरु यानी साधु के स्वरूप कोअच्छी तरह जानता है, सत्संग स्वानुभव और युक्तियों के द्वाराजिसका ज्ञान परिपक्व बन चुका है अतः जो सर्वसाधारण लोगों की बातों में या धूर्त लोगों के कुतर्कों में फँसकर कभी उथल-पुथल नही होताएवं उदण्ड तो नहीं मगर हरेक के आगे माथा लुढ़काने वाला भी नहीं होता किन्तु जिसमें जैसागुण देखता है, उसकावैसा आदर अवश्य करता है, सदा औरसब जगह हंस की भाँति विवेक से कामलेने वाला होताहै, वह अमूढ़दृष्टि अंग का धारककहा जाताहै। अब यहां पर प्रसंग पाकर संक्षेप में क्रमशः देव, शास्त्रऔर गुरू का स्वरुपबताया जाता है-देव का स्वरूपः-

रागादिदोषानुच्छिद्याण सर्वज्ञत्वमधिष्ठितः।
विदेहभावनिर्देष्टा परमात्माप्रसिद्ध्यति॥२॥

अर्थ- जिस आत्मा ने अपने अन्दर अनादिकाल से निरन्तर रूपसे उत्पन्न होते रहने वाले राग-द्वेष, मद-मात्सर्यादि-विकारी भावों का मूलोच्छेद करके पूर्णतयाप्रध्वंसात्मक अभाव करके सर्वज्ञापन को पालिया हो एवं यह जीव शरीर से निःशरीर किस प्रकारबन सकता है, इस प्रकार की शिक्षा कोइन संसारी जीवों को सम्मुख उपस्थित करने वाला हो, वहपरमात्मा कहलाताहैः जिसे आदर्श मानकर हम अपना सुधार कर सकते हैं।

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट विरूद्धवाक्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वशास्त्रं कापथघट्टनम्॥

अर्थात् जो मूल में सर्वज्ञ का कहा हुआ हो, किसी भी चीज का परिणामन कभी भी जिसके कथन से बाहर नहीं जा सकता हो, इसीलिये जिसमें प्रत्यक्ष और अनुमान से भी कोई अड़चन खड़ी नहीं की जा सकती हो, विकृतमार्ग का खण्डन करके जो वास्तविकता पर जोर देनेवाला हो, अतः सबका भला करनेवालाहो, वही आगम है।

नैराश्यमेवयस्याशाऽऽरम्भङ्गविवर्जितः।

साधु:स एव भूभागे ध्यानाध्ययनतत्पर: ।।३।।

अर्थात् निराशपना= आशा, तृष्णा से बिल्कुल रहित हो रहनाही जिसकी आशायानी सफलता हो, जो किसी भी प्रकारके काम धन्धे से ओर धनादि से सर्वथा दूर रहने वालाहो, जो ध्यान ओर अध्ययन में यानीउपर्युक्त परमात्माको याद करने में या पूर्वोक्त आगम के पढ़ने में ही निरन्तर लगा रहने वाला हो, वही इस भूतल पर साधु कहलाने का अधिकारी होता है।

अब, उपगूहनांग का वर्णन करते है-

अशक्तभावोत्थसधर्मिदोषमाच्छादयनैस् गुणैककोश: ।
अकण्टकं सत्पथमातनोतु न कोऽपि कष्टानुभवं करोतु।।५९।।

अन्वयार्थ:- (एष:गुणेककोश: अशक्तभावोत्पन्न सधर्मिदोषम् आच्छादयन्) यह गुणों का एक मात्र कोष स्वरूप सम्यक्त्वी जीव अशक्तिश उत्पन्न साधर्मी के दोषों को अच्छदादित करताहुआ (अकण्टकं सत्पथम आतनोतु) उसके लिये निष्कण्टक प्रशस्त मार्ग बनादेता है।(कोऽपि कष्टानुभवं न करोतु) उसकी यही भावना रहती है कि कोई भी कष्ट का अनुभव नहीं करे ।।५९।।

विशेषार्थ- प्राय: ऐसा देखने में आताहै कि जो जैसाहोता है वह दूसरों को भी वैसाही समझता है। जो चिलम पीने वाला है, वह उस चिलम को झटदूसरे के सामने कर देता है कि 'लो पीवो' भले ही वहनहीं पीता हो। बस, तो सम्यग्दृष्टि जीव खुद गुणवान होता है अत: औरों को भी गुणवान ही समझता है, उसका विचार उनके गुणों की ओर ही झुकता है। वहयह भी जानताहै कि भूल जाना या फिसल पड़ना कोई बड़ी बात नहीं है, मैं भी तो भूलाकरता हूं । शरीरधारी होकर ऐसा तो कोई विरला ही हो सकताहै जो भूलताही न हो, उसके आगे तो सबको सिर झुकाकर चलना पड़ता है,बाकी तोसभी भूल के भण्डारहैं। अत: जो कोई आदमी सत्पथ का श्रद्धालु तो हो किन्तु उस परसमुचित रूप से चलनेमें असमर्थ हो, बेसमझी और आलस्य के कारण ठीक न चलसक रहा हो इसलिये उसमें किसी प्रकार की कमी आ गई

हो तो, उस कमी को लेकर उसकी अवज्ञा नहीं करने लग जाता बल्कि उसको न याद करते हुए उसके अन्दर होने वाले शेष गुणों को लेकर उसका आदर करता है। दूसरे भी कोई अगर उसकी निन्दा करने लगते हैं तो उन्हें भी समझता है कि भाई साहब! आप ऐसा क्यों कर रहे हो? आपने उनमें ऐसी कौनसी बात पाई जिससे वे बिचारे आदमी ही न समझे जावें। किसी को भी इस प्रकार बेकार कोसने से तो वह न भी हो तो वैसाही बन जाता है। इस सम्यग्दृष्टि के इस बर्ताव से किसी को भी कोई कष्ट नहीं हो पाता औरभूल करने वाला आदमी भी धीरे-धीरे अपनी गलती को ठीक कर सकता है एवं मार्ग सुचारू ओर निष्कण्टक बन जाता है। अतः इसका नाम उपगूहनांग है।

अब, स्थितिकरण का वर्णन करते है:-

श्रद्धानतश्चाचरणाच्च्यवन्त:संस्थापिता:सन्तु पुनस्तदन्तः।
अनेकविघ्नप्रकरेऽत्र येन, सन्मानसोत्साह वशंगतेन ॥६०॥

अन्वयार्थः- (सन्मानसोत्साहवशंगतेन) शुभ चिन्तन तथा प्रशस्य उत्साह की वशवर्तिताको प्राप्त सम्यक्त्वी के द्वारा (अत्र अनेकविघ्नप्रकरे सति) यहाँ अनेक विघ्नसमूहों के होने पर (श्रद्धानतः) सम्यक्त्व से (च) ज्ञानसे (चरणात्) चारित्र से (च्यवन्त:पुन:तदन्त:संस्थापिता:सन्तु) च्युत होते हुए प्राणी पुनः उनमें संस्थापित किये जावें। (येन) जिससे (सन्मार्गच्युतानां तत्प्रति सुरुचिउत्पद्येत) सन्मार्ग से च्युत जीवों को सन्मार्ग के प्रति रूचि पैदा हो ॥६८॥

विशेषार्थ- 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इस कथन के अनुसार भली बातों में बाधायें तो अनेक आकर खड़ी होती हैं मगर साधक कोई विरला ही होता है। ऐसी हालत में यदि कोई भोला आदमी सन्मार्ग पर लग कर भी उस पर से चिग रहा हो या उसे ठीक नहीं पकड़ पा रहा हो, उस पर चलने में असमर्थ हो रहा हो तो उसकी सहायता करना सम्यग्दृष्टि आदमी का काम हो जाता है, क्योंकि ऐसा करने से उसकी सन्मार्ग के प्रति रुचि प्रस्फुट होती है, जिसका होना सम्यग्दृष्टि के लिये परमावश्यक

है, उसका जीवन है अत: यह स्थितिकरण उसका अंग हो जाताहै।

आगे वात्सल्य का वर्णन करते है-

धर्मस्य संग्राहक एष यस्माद्, धर्मात्मना नास्तुविना स तस्मात्।
स्निह्येत वत्सं प्रति धेनुतुल्य:, सधर्मिणं वीक्ष्य विवेककुल्यु: ।।६१।।

अन्वयार्थ:- (स धर्म: धर्मात्मना बिना न अस्तु) धर्म धर्मात्मा के बिना अन्यत्र नहीं मिलता। (यस्माद् एष: धर्मस्य संग्राहक:)और चूंकि यह धर्म का ग्राहक होताहै(तस्मात्) इस कारण से (सधर्मिणं वीक्ष्य अयं विवेककुल्य:) साधर्मी को देखकर यह विवेकवान् (वत्सं प्रति धेनुतुल्य:सन् स्निह्येत) बछड़े के प्रति गाय के वात्सल्य तुल्य स्नेह करता है ।।६१।।

विशेषार्थ- वैसे तो सम्यग्दृषिट जीव का प्राणी मात्र के प्रति प्रेमभाव होता है किन्तु किसी भी धर्मात्मा को वह देख पाता है तब तो बछड़े को देखकर गाय की भाँति उत्सुक ही हो लेता है। क्योंकि वह धर्म का ग्राहक होता है जो कि धर्मात्माओं के पास ही दिख पड़ता है। धर्मात्मा को छोड़कर धर्म अन्यत्र नहीं मिलता।' यद्यपि प्रेम तो संसारी प्राणियों में भी होता है-पति पत्नी में, भाई बहन में, पिता पुत्र में और अड़ौसी-पड़ौसी में भी प्रेम हुआकरता है परन्तु वहअपने-अपने मतलब को लिये हुए होता है, जहां मतलब सधा कि उसमें कमी आ जाती है या बदले में विरोध भी आ धमकता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि का धर्मात्मा के प्रति जो प्रेम होता है वह कुछ और ही प्रकार का होता है, उसमें स्वार्थ का नाम भी न होकर वह केवल परमार्थ का पोषण करनेवाला होताहै। उसका नाम वात्सल्य है।

अब प्रभावना अंग बतलाते है-

प्रभावयेदेष सदा स्वधर्म, माप्नोतु लोको यत एव शर्म।
कदापि कुर्याद् घृणितं न कर्म, प्रभिद्यते येन तु धर्ममर्म।।६२।।

अन्वयार्थ:- (एष:सदा स्वधर्मम् प्रभावयेत्)यह सम्यक्त्वी सदा स्वधर्म की

प्रभावना करे। (यतः लोको शर्म एव आप्नोतु) जिससे संसारी जीव भी सुखको प्राप्त हों। (कदापि घृणितं कर्म न कुर्यात्) कभी घृणित कार्य न करे (येन प्रभिद्यते धर्ममर्म) जिससेकि धर्म का मर्म नष्ट हो ॥६२॥

विशेषार्थ:- उपर्युक्त चेष्टा के धारक सम्यग्दृष्टि जीव को चाहिये कि वह अपने धर्म को निरन्तर वृद्धिंगत करता रहे, अपने आत्मपरिणाम उत्तरोत्तर निर्मल से निर्मल बनते चले जावे-ऐसा उपाय करे। ऐसा घृणित कर्म तो कभी स्वप्न में भी न करे जिससे कि धर्म पर मर्म की चोट आ पावे। भगवदुपासना, सद्गुरुसेवा आदि धर्म कार्यों में अग्रसर बना रहे ताकि और लोग भी उसे आदर्श मान कर उन कार्यों को तत्परता से करने लगें और अपना भला कर पावें। ऐसे अखण्डोत्साह का होना ही धर्म प्रभावना है।

शङ्का:- भगवदुपासना, सद्गुरुसेवादि में अग्रसर बनना तो शुभराग रूप होने से पुण्यक्रिया है, उसको धर्म कार्य मानना तो भूल है।

समाधान:- भैय्या! देखो, धर्म नाम सम्यक्त्व का ही तो है। वह जिसके हो वह सम्यक्त्ववान् धर्मात्मा होता है। वह जब अर्हदुपासनारूप अपने परिणाम करता है तो वह उस धर्मात्मा का परिणाम धर्मकार्य नहीं तो और क्या है? उसमें धर्म नहीं होता ऐसा माने तो इसका अर्थ यह हुआ कि वहां पर सम्यक्त्व नहीं रहता। सो क्या अर्हदुपासना के समय सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। नहीं, बल्कि आगम तो यह कहता है कि इतर गृहस्थोचित कार्य करते समय जो सम्यक्त्वी का सम्यक्त्व है उसकी अपेक्षा अर्हदुपासना में विशदतर बनता है अतः वहां धर्म की प्रभावना हुआ करती है। जैसा कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने अपने मूलाचार के पंचाचाराधिकार में लिखा है -

धम्मकहाकहणेण य, वाहिरजोगेहि चावि अणवज्जे।
धम्मो पहाविदव्वो, जीवेसु दयाणुकम्पाए॥८२॥

अर्थात् तीर्थंकर चक्रवर्ती नारायणादि महापुरुषों की कथा करने से, दानपूजादि

कार्यों से, जीवों पर दया भाव करने से, ऐसे-ऐसे और भी निर्दोष कार्यरूप में अपने परिणाम करने से धर्म की प्रभावना करनी चाहिये। हाँ, यह बात दूसरी है कि ऐसे कार्य में सम्यग्दृष्टि जीव के प्रशस्त पुण्य का भी आस्रव होता है, सो यदि आस्रव होने मात्र से धर्म न कहकर अधर्म कहा जावे तब तो आस्रव तो शुद्धोपयोग में भी होता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग और शुद्धोपयोग ये दोनों धर्मरूप ही होते हैं। अधर्म तो मिथ्यात्व का नाम है जो कि मिथ्यादृष्टि में ही होता है अत: उसकी सभी क्रियायें अधर्मरूप ही होती हैं। खाना-पीना आदि क्रियायें तो योग और उपयोग दोनों में अशुभ रूप होने से घोर अधर्म अर्थात् पापरूप होती है मगर वह जो भगवदुपासनादि क्रियायें करता है तो वहां पर भी उसके उपयोग तो अशुभ ही होता है सिर्फ योग शुभ होने की वजह से अप्रशस्त पुण्य का आस्रव होता है अत: पुण्य क्रियायें कही जाती हैं -

शंका:- वीतरागपने का नाम धर्म और सरागपने को अधर्म कहें तो क्या दोष है?

समाधान:- ऐसा मानने से तो फिर बारहवें गुणस्थान से नीचे वाले सभी लोग अधर्मी ही ठहरते हैं परन्तु हमारे मान्य जैनशासन में तो धर्म या मोक्षमार्ग, चतुर्थगुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है जो कि सरागधर्म और वीतरागधर्म के नाम से दो भागों में जरूर विभक्त किया हुआ है सो चतुर्थगुणस्थान से प्रारम्भ होकर दसवें गुणस्थान के अन्त तक सरागधर्म होता है, उससे ऊपर वीतराग धर्म बन जाता है। अस्तु! प्रारम्भिक सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोक्त प्रशमादि भावों का धारक तथा नि:शंकितादि अंगों का पालक होते हुए सदाचार का पक्षपाती होकर दुराचार का विरोधी हुआ करता है। सो ही स्पष्ट करते हैं -

एवं सदाचार परोऽप्यपापी, चारित्रमोहोदयतस्तथापि।
महाव्रतेभ्योऽयमिहातिदूर:, देशव्रतानिक्रमितुं न शूर: ॥६३॥

अन्वयार्थ:- (एवं इह अयं सदाचारपर: अपि) इस प्रकार यहां यह जीव सदाचार

तल्लीन और (अपापी) पापवृत्तियों से रहित होता है। (तथापि चारित्रमोहोदयत:) तथापि चारित्र मोह के उदय से (महाव्रतेभ्य: अतिदूर:) महाव्रतों की तो कथा ही क्या-उनसे तो अतिदूर ही है (देशव्रतानि क्रमितुं न शूर:) श्रावक के पालन करने योग्य बारह व्रतों को भी धारण करने में समर्थ नहीं होता है॥६३॥

विशेषार्थ:- वह अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव पापों से यद्यपि दूर रहता है, सदाचार का पूरा हामी होता है फिर भी चारित्रमोह के तीव्रोदय के कारण महाव्रतों की तो कथा ही क्या, किन्तु श्रावक के पालन करने के योग्य बारह व्रतों को भी धारण करने के लिए समर्थ नहीं होता है। जैसे कि एक भले घर का नौजवान जिसकी अभी शादी नहीं हुई है, वह यद्यपि स्त्री प्रसंग से दूर है फिर भी स्त्री प्रसंग का त्यागी नहीं है। बस, यही अवस्था उस अव्रत सम्यग्दृष्टि की होती है; त्यागी या व्रती न होकर भी वह पापाचारी नहीं होता।

यदा द्वितीयाख्यकषायहानि:, सुश्रायकत्वं लभते तदानीं।
न्यायोचिते भोगपदेऽपकर्ष:, सन्तोष एवास्य वृथा न तर्ष: ॥६४॥

अन्वयार्थ:- (यदा द्वितीयाख्यकषायहानि:) जब द्वितीय अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण कषाय अभाव को प्राप्त होती है (तदानींसुश्रावकत्वं लभते) तब स्पष्टत: श्रावकपना प्राप्त करता है। (अस्य न्यायोचिते भोगपदे) तब इसके न्यायोचित भोगों में भी (अपकर्ष:, सन्तोष:, च वृथातर्ष: न) अपकर्ष- कमी होती है, सन्तोष रहता है तथा व्यर्थ की आशा तृष्णा नहीं रहती॥६४॥

विशेषार्थ:- उपर्युक्त अभ्यास के बल पर अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ नामक दूसरी कषायों का भी क्षयोपशम हो जाता है तो यथाविधि अणुव्रतों के पालन करने में तत्पर होकर स्पष्टरूप में श्रावक बनता है जिससे कि न्यायोचित विषयभोग भोगने में भी इसकी वृत्ति अब सीमित हो जाती है। जैसे मानलो- अव्रत अवस्था में तो अपनी स्त्री से रात में या दिन में भी जब चाहे तब बतिया लिलया करता था मगर अब दिन में कभी याद न करके रात्रि में ही उसके साथ प्यार करने

का दृढ़ संकल्प अपने मन में रखता है। इस प्रकार पूर्वकाल की अपेक्षा से अब कुछ सन्तोष पर आ जाता है। अपने किये हुए संकल्प के सिवाय की बात को कभी याद ही नहीं करता किन्तु अपने संकल्पोचित विषय में भी व्यर्थ की आशा, तृष्णा से बचने की चेष्टा रखता है एवं इसका मन दृढ़तर बन जाता है, ताकि-

स्त्रियं श्रितस्यापि ततोऽल्य एवाप्त पंचमस्येति वदन्ति देवाः।
चतुर्थभूमौ भजतो जिनंच, बन्धो यथा स्यात्स्थितिभागमंचः ॥६५॥

अन्वयार्थः- (चतुर्थभूमौ जिनं भजतः) चतुर्थ गुणस्थान में जिनेन्द्रदेव को भजने वाले के (यथास्थितिभागमञ्चः बन्धः स्यात्) जैसी स्थिति मञ्च अर्थात उच्चस्थान आधिक्यमय बंधती थी (ततः) उससे (आप्तपंचमस्य) पंचमगुणस्थानवर्ती के (स्त्रियं श्रितस्य अपि) जो कि स्त्री सम्पर्क के काल में स्थित है, उसके भी (अल्प एव) अल्प ही स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध होता है, ऐसा (इति वदन्ति देवाः) जिनदेव कहते हैं॥६५॥

विशेषार्थः- जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि की अवस्था से सम्यग्दृष्टिपन स्वीकार करने पर ज्ञानावरणादि कर्मों का अल्पस्थिति और अनुभाग लिये हुए बन्ध होने लगा था, वैसे ही अव्रत अवस्था से इस देशव्रत अवस्था में और भी कम स्थिति अनुभाग युक्त होने लगता है। चौथे गुणस्थान में भगवद् भजन सरीखा पवित्र कार्य करते समय भी उन दुष्कर्मों का वैसा अल्पबन्ध नहीं होता था जैसा कि इस पंचम गुणस्थान में आ जाने पर स्त्रीसम्पर्क करने के काल में हुआ करता है। क्योंकि कर्मबन्धन का हिसाब बाह्य प्रवृति पर निश्चित न रहकर मनुष्य के कषायांशों पर अवलम्बित होता है। कषाय उस पंचमगुणस्थान की अपेक्षा चतुर्थगुणस्थान में हर हालत में अधिक ही होता है। अतः बंध भी अधिक ही होता है। इसी बात को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं -

लक्षाधिपस्यास्त्ययुतं शतं वा, तथा कषायप्रचलावलम्बात्।
तत्रानुयुक्तोऽधिक एव रागस्ततोऽमुतोऽत्यर्थमियात्स आगः ॥६६॥

अन्वयार्थः- (लक्षाधिपस्य अयुतं वा शतं अहित) जैसे लखपति के हजार रुपये की या सौ रुपये की ताकत तो है । तथा उसी प्रकार से (कषायप्रचयावलम्बात्) कषायसमूह का अवलम्बन होने (तत्र:) वद्य यान कि नीचे के गुण स्थान में (अधिकः एव अनुयुक्तः रागः) से निन्दित राग होता है। (ततः) इस कारण (अमुतः) इस ऊपर के गुणस्थान वाले जीव से (सः आगः) (अत्यर्थम् इयात्) वह अधस्तन गुणस्थानवर्ती बहुत अधिकता से पाप बन्ध को प्राप्त होता है॥६६॥

विशेषार्थः- जैसे एक लखपति है और दूसरा हजारपति , तो लखपति में हजारपतिपन की भी ताकत है और शतपतिपन की भी। हजारपति में शतपतिपन की तोताकतहोती है मगर लखपतिपन की नहीं। वैसे ही मिथ्यादृष्टि अवस्था में तो अनन्तानुबन्धी कषाय होने से अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण वगैरह सभी कषायें होती हैं अतः उसके वैसा ही घोर कर्मों का बन्ध भी हर समय होता रहता है। सम्यग्दृष्टि हो जाने पर अनन्तानुबन्धी कषाय का तो अभाव हो जाता है अतः उससे होने वाला बन्ध तो नहीं किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय होने से उससे होने वाला और साथ में प्रत्याख्यानावरणादि से होने वाला बन्ध भी होता रहता है। श्रावक हो जाने पर जबकि अप्रत्याख्यानावरण का भी अभाव हो लिया तो उसके सिर्फ प्रत्याख्यानावरणादिजन्य स्वल्पबन्ध होना ही बाकी रहता है, वही होता रहता है। हां, यह बात दूसरी है कि प्रत्येक कषाय के भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद होते हैं। अतः उनमें आपस में ही नाधिकपना और तज्जन्य हीनाधिक बन्ध भी होता है परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि एक व्रती श्रावक के अव्रती सरीखी तीव्र कषाय व वैसा तीव्रबन्ध होने लगे ।

शङ्काः- हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक व्रती पुरूष के कभी-कभी साधारण गृहस्थ से भी अधिक क्रोधादि हो आते है।

समाधान- ऐसा जो देखा जाताहै, वह तो लेश्याकृत विकारहै। कषाय के उदय से होने वाली मन, वचन और काय की प्रवृत्ति का नाम लेश्या है। वह कृष्ण, नील, कापोत और पीत, पद्म, शुक्ल के भेद से छह प्रकार की होतीहै। इनमें से अव्रत अवस्था में भी कृष्ण से लेकर शुक्ल तक और व्रतीपन में भी पीतलेश्या से लेकर

शुक्ललेश्या तक यथासम्भव यथावसर बदलती रहती है। सो कभी किसी अव्रती के मन्देलेश्या और किसी व्रती के तीव्र लेश्या काहोना बड़ी बात नहीं, फिर भी अगर वह सच्चा व्रती है तो गुस्से में आकर भी अव्रती सा कार्य करने लगता है क्या ? मानलो कि एक अम्बा के दो लड़के हैं-एक अव्रती और दूसरा व्रती। दोनों ने विचार करके अम्बा से कहा कि "मैय्या! आज तो लड्डू खाने की इच्छा है सो लड्डू बनाना" मगर माँ लड्डू बनाना भूल गई, उसने भात बना लिये। भोजन के समय उसने कहा कि "आवो बेटों! भात तैयार हो गये, खा लो ।" इस पर अव्रती ने तो सोचा कि 'चलो कोई बात नहीं, भात बनाये हैं तो भात ही सही।' उधर व्रती कहता है कि 'आज कई दिन से तो मोदक बनाने को कहा था, सो क्यों नहीं बनाये, मैं तो नहीं खाता।' यों रोष में भर आता है, इतना तो हो सकता है किन्तु इस रोष ही रोष में बाजार से हलवाई के यहां से लड्डू लाकर खा लेवे, ऐसा कभी नहीं हो सकता। किन्तु यदि अव्रती के मन में आ जावे तो वह झट खरीद कर खाने लग जाता है। बस, यही इन दोनों में अन्तर होता है जो कि उसकी कषाय का अन्तर है और अंतरंग में सदा बना रहता है; इस कषाय विशेष से ही व्रती की अपेक्षा अव्रती के अधिक बंध माना गया है, सो ठीक ही है। घास खाने वाला हरिण दूब चरते समय भी अपनी भद्रता के कारण उतना पाप नहीं करता है जितना कि नींद में सोता हुआ चूहों को खाने वाला बिलाव, ऐसा मानना ही होगा।

एवं तृतीयाख्य कषायहानेर्भोगापयोगाय मनोऽनुजाने।
तथापि सत्कर्मणि संप्रवृत्तिर्नकिन्त्वमुष्यात्ममुखाभिवृत्तिः ॥६७॥

अन्वयार्थः- (एवं तृतीयाख्यकषायहानेः) इस प्रकार तृतीय कषाय की हानि से (भोगपयोगाय) भोगों से दूर होने के लिये (मनोऽनुजाने) मन अनुमति देता है। (तथापि सत्कर्मणि संप्रवृतिः) फिर भी-मुनि-अवस्था में भी सत्कर्म में सम्यक् प्रवृति होती है। (किन्तु अमुष्य आत्ममुखाभिवृत्तिः न) किन्तु सीधा आत्मस्वरूप अभी नहीं जमने पाता ॥६७॥

विशेषार्थः- श्रावक अवस्था में यद्यपि त्याग की तरफ झुकाव हुआ करता

है फिर भी आंशिक भोगोपभोगों का भी उपयोग होता रहता है मगर जहां प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का क्षयोपशम हुआ कि भोगसामग्री से कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि सभी तरह की बाह्य ऐशो आराम की चीजों से अपने उपयोग को हटा कर आदमी मुनि बन जाया करता है।

शंङ्का:- बाह्य वस्तुओं का त्याग तो द्रव्यलिंगी मुनि के भी होता है। सो क्या उनके भी प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का क्षयोपशम होता है ?

समाधान:- द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि के किसी भी कषायका क्षयोपशम नहीं हुआ करता मगर अनात्मभावरूप मिथ्यात्व के होने से उसके और सभी चारित्रमोहनीय कषायें उदय में आती रहती हैं; वह भव्यसेन मुनि की तरह अपने आपको बड़ा भारी तपस्वी माना करता है। औरों के प्रति तुच्छता का भाव उसके अन्तरंग में घर किये हुए रहता है। वह मानता है कि मैं जो यह तपस्या कर रहा हूं, सो किसी से भी न होने वाला बहुत ही बड़ा काम कर रहा हूं। इस प्रकार का मिथ्याभिमान उसके सदा बना रहता है।

शंका:- ऐसी दशा में उन्हें जो अन्तिम ग्रैवेयक तक की प्राप्ति हो जाती है, सो कैसे हो जाती है ?

समाधान:- उसके मन, वचन और काय नामक योगों की प्रवृति महाव्रतादिमय शुभ रूप होती है जिससे उच्च गोत्रादि पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होकर उन्हें अहमिन्द्रपद की प्राप्ति हो जाती है फिर भी उनका उपयोग मलिन ही बना रहता है, अत: संसार का अभाव नहीं हो पाता।

शंङ्का:- इसीलिये तो हम कहते हैं कि शुभोपयोग शुद्धोपयोग का साधन नहीं है, यानी शुभ क्रिया करते-करते यह जीव अन्त में नियम से शुद्धता को प्राप्त कर जाता है, ऐसा मानना गलत है।

समाधान:- ऊपर सिर्फ शुभयोग की बात कही गई है जो द्रव्यलिंगी के होता

है। उसको किसी भी जैनाचार्य ने किसी भी जगह शुद्धोपयोग का साधन कभी नहीं बतलाया है अतः उसे ही शुद्धोपयोग का साधन मानने वाला अवश्य भूल खाता है परन्तु शुभोपयोग की चरमावस्था शुद्धोपयोग का कारण जरूर है जैसा कि आचार्यों ने बतलाया है। तुम जो शुभोपयोग को शुभयोग में घसीट रहे हो सो ठीक नहीं। शुभयोग भिन्न चीज है और शुभोपयोग भिन्न। योग तो आत्मा की मन-वचन-काय के निमित्त से होने वाली सकम्पता का नाम है और उपयोग नाम चैतन्य परिणाम का है। वे दोनों ही अशुभ, शुभ और शुद्ध के भेद से तीन-तीन तरह के होते हैं।

हिंसा करना, झूठ बोलना, डाह रखना इत्यादि रूप चेष्टा का नाम अशुभयोग है जो कि पापबन्ध का कारण होता है। जीवों की रक्षा करना, सत्य बोलना, जिनस्मरण करना इत्यादि रूप चेष्टा को शुभयोग कहते हैं जिससे पुण्य का बन्ध होता है। निरीहता से कायादि की चेष्टा का नाम शुद्धयोग है जिससे कि किसी भी तरह का बन्ध न होकर ईर्यापथिक आस्रव मात्र होता है। शरीर और आत्मा को एक मानते हुए इन्द्रियाधीनवृत्ति का नाम अशुभोपयोग है जो अनन्त संसार का कारण है। शरीर से आत्मा को भिन्न, नित्य ज्ञानस्वरूप मानते हुए एवं वीतरागता की ओर झुकते हुए सद्विचार का नाम शुभोपयोग है जो परीतसंसारपन का साधन है। वीतरागभाव का नाम शुद्धोपयोग है, जो संसाराभाव का साक्षात् कारण है। इनमें से अभव्यजीव के और मिथ्यादृष्टि भव्य जीव के भी उपयोग तो अशुभ ही होता है किन्तु योग शुभ एवं अशुभ पलटते रहते हैं। सम्यग्दृष्टि के अशुभोपयोग का अभाव होकर शुभोपयोग फिर शुभोपयोग से शुद्धोपयोग होता है। यानी सम्यग्दृष्टि जीव के योग तो अशुभ, शुभ और शुद्ध ऐसे तीनों ही प्रकार का यथासम्भव होता है क्योंकि एक सम्यग्दृष्टि जीव जिस समय युद्ध में प्रवृत्त हो रहा होता है तो वहां उसके उपयोग तो शुभ किन्तु योग अशुभ हुआ करता है। वहीं जब भगवत्पूजनादि कार्यों में प्रवृत्त होता है तो उपयोग और योग दोनों शुभ होते हैं और वीतराग दशा में उसके वे दोनों शुद्ध हो जाते हैं।

शंका:- योग और उपयोग भिन्न-भिन्न प्रकार के नहीं हो सकते। (देखो श्री रामजी माणेकचन्द दोसी कृत तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय के तीसरे सूत्र की टोका)

क्योंकि जैसे जीव के विचार होंगे वैसी ही उसकी चेष्टा भी होगी।

समाधान:- देखो भैयाजी! मानलो कि कोई आदमी अपने से अधिक शक्तिशाली अपने शत्रु को परास्त करना चाहता है जिसके लिए नवरात्रानुष्ठान करना प्रारम्भ करता है। इसमें मन से तो अपने इष्ट भगवान का स्मरण करता है, वचन से भगवन्नामोच्चारण और शरीर से भगवत्पूजन में संलग्न हो रहता है तो वहां पर उसके योगचेष्टा तो शुभ है किन्तु विचार जो है वह शत्रुदमनरूप खुदगर्जमय होने से अशुभरूप है।

शंका:- विचार मन के द्वारा होता है और योगों में भी मन-योग प्रधान है फिर दोनों भिन्न-भिन्न कैसे, सो अभी तक हमारी समझ में नहीं आया।

समाधान:- तुम्हारा कहना ठीक है। विचार और मनोयोग ये दोनों होते हैं मनके द्वारा किन्तु विचार आत्मा के ज्ञान गुण का परिणाम है और योग आत्मा के प्रदेशवत्व गुण का (कम्पनरूप) परिणाम। फिर इन दोनों के भिन्न-भिन्न होने में बाधा क्या है? कुछ नहीं।

अत: द्रव्यलिंगी मुनि का बाह्य वस्तुओं का त्याग योगमात्र से होता है, उपयोग से नहीं परन्तु जो सच्चा त्यागी होती है, वह तो बाह्य वस्तुओं को व्यर्थ मानकर सहज ही उनसे विमुख हो रहता है; जैसे कि खाते-खाते किसी का मन भर जाए तो फिर वह खाने के तरफ की भावना ही छोड़ देता है। हां, इस प्रकार का त्याग करके मुनि हो जाने पर भी इसकी प्रवृति एकान्त आत्माभिमुखी नहीं हो जाती परन्तु वीतराग सर्वज्ञ भगवान का ध्यान करना, वीतरागपन का निर्देश करने वाले उपदेशों को याद करना, सद्गुरुओं की वैय्यावृत्य करना, वीतरागियों के पास रहने को ही चाहना, इत्यादि सत्कार्यों के करने में संलग्न होता है यानी इन बातों के द्वारा ही तो अपने आत्मास्वरूप का महत्त्व अपने हृदय में उतारता है-श्री अरहन्त भगवान वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं और जैसा अरहन्त का स्वरूप है वैसा ही मेरी आत्मा का भी स्वरूप है-परन्तु सीधा आत्मास्वरूप पर अभी नहीं जमने पाता। क्योंकि -

यतोऽन्तरा संज्वलतीहराग: दन्दह्यतेऽनेन किलात्मबाग:।

नायातुमर्हत्यत एव भेद विज्ञानपुष्पं सुमनः स्थलेऽदः ॥६८॥

अन्वयार्थः- (यतः इह अन्तरा रागः संज्वलति) क्योंकि यहां भीतर राग सम्यकृतया जलता हुआ है। (अनेन किल आतमबागः दन्दह्यते) इससे निश्चय ही आत्मबाग अतिशयपने से दहन को प्राप्त होता है। (अतः एव) इसीलिये (सुमनः स्थले) इसके मनरूपी सुमनः स्थल में (अदः (तत्) भेदविज्ञानपुष्पं) यह भेदविज्ञानरूपी पुष्प (आयातुं न अर्हति) आ नहीं पाता ॥६८॥

विशेषार्थः- अब भी इसके आत्मरूप बाग की जमीन में संज्वलन नामका कषाय पर रागभाव अपना असर किये हुए रहता है जिससे बिलकुल परावलम्बन से रहित अपने शुद्धात्मस्वरूप पर आकर जम जाने रूप भेदविज्ञान, जिसे शुक्लध्यान भी कहते हैं, वह इसके मन में स्फुटित नहीं हो पाता। यह भेदविज्ञान आत्मीक सफलता के लिये पुष्प का कार्य करता है।

भेदविज्ञान का खुलासा

भेदविज्ञान में भेद और विज्ञान ये दो शब्द हैं जिनमें परस्पर समास होकर भेदविज्ञान एक शब्द बन गया है। सो 'भेदस्स विज्ञानं' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास किया जाय तब तो "एकक्षेत्रावगाह होकर भी शरीर और आत्मा में जो परस्पर भेद है, उसका ज्ञान, यानी देह और जीव में परस्पर एकबन्धानरूप संयोग सम्बन्ध है, फिर भी ये दोनों एक ही नहीं हो गये हैं अपितु अपने-अपने लक्षण को लिये हुए, भिन्न-भिन्न हैं। रूप, रस, गन्ध और स्पर्शात्मक पुद्गल परमाणुओं के पिण्डस्वरूप तो यह शरीर है किन्तु उसके साथ-साथ उसमें चेतनत्व को लिये हुए स्फुटरूप के भिन्न प्रतिभासित होने वाला आत्मतत्त्व है।" इस प्रकार जानना और मानना-सो यह भेदविज्ञान तो चतुर्थगुणस्थान में हो लेता है किन्तु जबकि 'भेदेन भेदाद् वा यद् विज्ञानं तद् भेदविज्ञानं'-ऐसा समास लिया जावे तो फिर कर्मों को दूर हटा कर यानी रागद्वेषादिभाव कर्मों का नाश कर डालने पर जो ज्ञान यानी शुद्धात्मा का अनुभव हो उसका नाम भेदविज्ञान सो यह पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान का नाम बन जाता है-जो कि यहां इष्ट है

और जिसके कि सोलहों आना सम्पन्न हो लेने पर उसके उत्तरक्षण में एकत्व को प्राप्त होते हुए यह आत्मा अपने ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म को भी मिटाकर परमात्मा बन जाता है। तथा जिसके न प्राप्त होने पर या प्राप्त होकर भी छूट जाने पर यह आत्मा कर्मों से बंधा का बंधा ही रह जाता है जैसा कि अमृतचन्द्रस्वामी कह गये हैं -

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन॥

अब वह भेदविज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है सो बताते हैं -

प्रस्तूयते सातिशयाख्यखादः चेदंकुरायात्मविदोऽप्रमादः।
मृदन्तरा बीजवदीष्यतेऽदः पुनः किलास्पष्टसदात्मवेदः॥६९॥

अन्वयार्थः- (चेत् सातिशयाख्यखादः प्रस्तूयते) सातिशय नाम की खाद प्रस्तुत की जाती है तो (आत्मविदः अप्रमादः अङ्कुराय) आत्मज्ञानी का अप्रमत्तभाव-सातिशयता के साथ होकर-शुद्धात्मा की उत्पत्ति स्वरूप अंकुर के लिये है (पुनः अदः अस्पष्टसदात्मवेदः किल मृदन्तरा बीजवत् इष्यते) यहां अस्पष्टतया आत्मवेदन वैसे है जैसे बीज मिट्टी के भीतर ही भीतर मिट्टी को साथ लिये हुए अस्पष्ट रूप में फूट जाता है॥६९॥

विशेषार्थः- मुनिपने में भी मुख्यतया इस जीव के दो प्रकार के भाव होते हैं-एक प्रमत्त भाव दूसरा अप्रमत्त भाव। परावलम्बन रूप भाव का नाम प्रमत्त भाव है और परावलम्बन से निवृत्त होने रूप भाव का नाम अप्रमत्त भाव; जैसे कि मुनि होते समय में अब मुझे इन कपड़ों से क्या प्रयोजन है, कुछ नहीं है; ऐसा सोध कर उन्हें अपने शरीर पर से उतारने लगना, दूर करना सो अप्रमत्त भाव एवं पीछी और कमण्डलु को संयम तथा शौच का साधन मानकर ग्रहण करना इत्यादि रूप भाव सो प्रमत्त भाव होता है अथवा सिर के केशों को नोंच कर फेंकनासो अप्रमत्त भाव और 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' इत्यादि रूप सिद्धभक्ति करने लगना सो प्रमत्त भाव होता है। सामयिक करते समय में शरीर से भी निर्ममत्व होकर कायोत्सर्ग करने का नाम अप्रमत्त

भाव है किन्तु स्तवनादि में प्रवृत्त होने का नाम प्रमत्त भाव है। इसी प्रकार से और भी समझ लेना चाहिये। सो ये प्रमत्त से अप्रमत्त और अप्रमत्त से प्रमत्त भाव मुनि के होते ही रहते हैं जिनको प्रमत्तविरत और स्वथानप्रमत्त भाव क्रम से कहते हैं, परन्तु इन दोनों तरह के भावों से दूर होकर रहने वाला बिलकुल हेयोपादेयपन से रहित परमोदासीन भाव एक और भी हो सकता है जिसको शुद्ध भाव भी कहते हैं; जैसा कि श्री समयसारजी में कहा है -

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव॥६॥

उस शुद्ध आत्मभाव का नाम ही भेदविज्ञान है, इसी को स्वरूपाचरण भी कहते हैं जिसको प्राप्त करने के लिये उससे पहले सातिशयाप्रमत्त भाव की आवश्यकता होती है। यह सातिशयाप्रमत्त भाव उस शुद्ध भाव प्राप्ति के लिये, खेती के लिये खाद और पानी का सा कार्य करता है जिसमें और सब कल्पनाओं को दूर करके आत्मस्वरूप को उपादेय रूप से स्वीकार किया जाया करता है। मतलब यह है कि इसके अनुभव में इस समय आत्मा शुद्धरूप में न आकर उपादेयरूप रागांशयुक्त आता है जैसे कि शुरू-शुरू में बीज मिट्टी के भीतर ही भीतर मिट्टी को साथ में लिये हुए अस्पष्टरूप में फूट पाता है यानी इस अनुभव में शुद्धात्मा=निकल परमात्मा श्री सिद्ध परमेष्ठी तो ध्येय और आप उनका ध्यान करने वाला होता है, सिर्फ इतना सा भेदभाव रह जाता है। इसी को रूपातीत धर्मध्यान कहते हैं जो कि प्रशस्त संहननयुक्त मुनि की दशा में ही हुआ करता है क्योंकि इसके लिये सुदृढ़ रूप में मन, वचन, काय की निश्चलतता की जरूरत होती है। अस्तु! यह रूपातीत धर्मध्यान ही अपने उत्तरकाल में उस आत्मा के उपादेयतारूप रागांश को भी क्रमशः लुप्त करके शुक्लध्यान के रूप में परिणत होता है। उस रागांश को लुप्त करने की क्रमिक पद्धति का नाम ही श्रेणी है, सो ही नीचे के वृत्त में बताते हैं -

उदीयमानस्य चिदंशकस्य, रागादिदानीं च्यवतः समस्य।
यन्त्रेण तैलस्य खलादिवेतः, श्रेणी समष्टिं प्रति भाति चेतः॥७०॥

अन्वयार्थः- (उदीयमानस्य चिदंशकस्य) जो उदीयमान है, ज्ञान (अंगपूर्व) का अश है जिसके, उसके (इदानीं रागात् समस्य च्यवतः) और राग कम करते हुए उससे च्युत होने वाले महात्मा के (यन्त्रेण तैलस्य खलात वा इव) जैसे कोल्हू से तैल का खल से पृथक् होना होता है, वैसे (इतः श्रेणौ) इस समय से श्रेणी में या यहां श्रेणी में (चेतः समष्टिं प्रति भाति) आत्मा समवेत सत्ता की ओर होती है अर्थात् स्व में लीन होती हुई आगे बढ़ती जाती है॥७०॥

विशेषार्थः- याद रहे कि श्रेणि-समारोहण के लिये या शुक्लध्यान प्राप्त करने के लिये सहायता रूप से अगपूर्वादिरूप विशिष्ट श्रुतज्ञान की भी आवश्यकता होती है जो कि उस आत्मा में या तो पहले से ही प्रस्फुट हो रहा होता है और नहीं तो फिर रूपातीतध्यान के समय प्रस्फुट कर लिया जाता है तब फिर आगे बढ़ा जाता है; सो उस श्रेणी में प्रविष्ट हुआ आत्मा अपने रागांश को दबाते या नष्ट करते हुए वहां पर प्रस्फुट होने वाले शुद्ध चेतनांश का अनुभव करता है जैसे कि कोल्हू में तिल पिल करके खल में से पृथक् होता हुआ तैल दीख पड़ता है। एवं रीत्या यह आत्मा विशद से विशदतर होता चला जाता है। इसी का दूसरा उदाहरण -

पटः प्रशुद्ध्यन्निवफेनिलेनाऽधुनानुभूयेत भवन्निरेनाः।
किन्तुपयोगो नहि शुद्ध एव प्राहेति सम्यग् जिनराजदेवः॥७१॥

अन्वयार्थः- (फेनिलेन प्रशुद्ध्यन् पटः इव) साबुन से शुद्ध होते हुए कपड़े की तरह ही (अधुना निरेनाः भवन् अनुभूयेत) अब-श्रेणी में रागादिपापरहित होता हुआ आत्मा अनुभव में आता है। (किन्तु उपयोगी नहि शुद्ध एव) किन्तु श्रेणी में-अष्टमादि गुणस्थान में-उपयोग सर्वथा शुद्ध ही नहीं है। (इति जिनराजदेवः सम्यक् प्राह) इस प्रकार जिनदेव सम्यक्तया कहते हैं॥७१॥

विशेषार्थः- जिसप्रकार एक मैले कपड़े को साबुन और पानी से धोया जाता है तो धीरे-धीरे साफ होता हुआ प्रतीत होता है, वैसे ही श्रेणिस्थित आत्मा भी अपने आप में होने वाले रागांश को अल्प से अल्पतर करते हुए विशुद्ध बनता चला जाता

है एवं इसका उपयोग श्रेणी के अन्त में जाकर पूर्ण शुद्ध बन पाता है। ऐसा श्री जिनभगवान का कहना है।

तो फिर श्रेणिमध्यवर्ती अष्टमादिगुणस्थानों में जो शुद्धोपयोग कहा गया है सो क्या गलत बात है ? इसक उत्तर नीचे दिया जा रहा है -

रागित्वमुज्झित्य तदुत्तरत्र, शुद्धत्वमाप्नोति किलैवमत्र।
शुद्धोपयोगे गणनाष्टमादिसूक्ष्मस्थलान्तं विभुनान्यगादि।।७२।।

अन्वयार्थ:- (तद् उत्तरत्र) उससे उत्तरकाल में या उससे आगे (किल) निश्चय ही (रागित्वम् उज्झित्य) रागीपन को त्याग करके (शुद्धत्वम् आप्नोति) शुद्धत्व को प्राप्त करने वाले होते हैं। (एवं अत्र) इस कारण यहां (अष्टमादि सूक्ष्मस्थलान्तं शुद्धोपयोगे गणना विभुना अगादि) आठवां आदि सूक्ष्मस्थल-सूक्ष्मसाम्पराय तक के गुणस्थानों की शुद्धोपयोग में गणना प्रभु के द्वारा कही गई है।।७२।।

विशेषार्थ:- श्री सर्वज्ञदेव ने बतलाया है कि अष्टमगुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक के जीव अपने रूप में तो रागयुक्त होते हैं, अतः शुद्धोपयोगी नहीं कहे जा सकते, मगर अपने उत्तरकाल में नियम से राग को त्याग करके शुद्धत्व को स्वीकार करनेवाले होते हैं, इसलिये उनके शुद्धोपयोग कहा जावे तो ठीक ही है। होनहार राजा के लड़के को भी तो राजा कहा जाता है; मतलब यह है कि भावनिक्षेपापेक्षया तो श्रेणी में स्थित जीव शुद्धोपयोगी नहीं, विशुद्धोपयोगी होते हैं किन्तु द्रव्यनिक्षेप से उन्हें शुद्धोपयोग वाला माना गया है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि चतुर्थादिगुणस्थान वाले भी आगे चलकर तो शुद्धोपयोगी बनेंगे फिर उन्हें शुद्धोपयोग क्यों नहीं कहा गया ? इसका उत्तर आगे के छन्द में दिया जा रहा है।

तूर्यादिभूमावपि नेदृगिष्टिः यतस्ततश्चादिपदेऽपि विष्टिः।
दृङ्मोहनाशेऽपि चरित्रमोहसंविप्लवः स्यादिति सज्जनोहः।।७३।।

अन्वयार्थ:- (तूर्यादिभूमौ अपि न ईदृग् इष्टिः) चतुर्थ आदि गुणस्थानों में इस

प्रकार की प्रवृत्ति नहीं है। (यत: तत: आदिपदे अपि विष्टि:-प्रवेश:) क्योंकि वहां से प्रथम गुणस्थान में भी प्रवेश हो जाता है। (च) और चतुर्थ से कदाचित् ऊपर भी जा सकता है (दृङ् मोहनाशे अपि) दर्शनमोहनीय का अभाव हो जाने पर भी (चरित्रमोहसंविप्लव:) (चरित्रमोहकृत: सम्यक् उपद्रव: इति) उसके चारित्रमोह का उपद्रव तो होता ही है। (इति सज्जनोह:) इस प्रकार सज्जनों का ऊह अर्थात् ज्ञान या युक्ति है॥७३॥

विशेषार्थ:- अव्रत सम्यग्दृष्ट्यादि गुणस्थानवर्ती जीव यदि ऊपर की तरफ जावे तब तो क्रमश: आगे बढ़कर शुद्धोपयोग (वीतरागता) को प्राप्त कर सकता है किन्तु नीचे की तरफ लुढक कर वापिस मिथ्यादृष्टि भी तो बन सकता है; सीधा ऊपर को ही जावे यह उसके लिये कोई नियम नहीं है। जिसका दर्शनमोह बिलकुल नष्ट हो गया ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी चतुर्थ गुणस्थान से नीचे की ओर तो नहीं जाता फिर भी पांचवे छठे सातवें गुणस्थानों में यहां से वहां अनेक बार परिवर्तन तो करता ही है। हां, जिसने सातिशयाप्रमत्त अवस्था को प्राप्त कर लिया वह अवश्य अष्टमादि गुणस्थानों में होकर वीतरागपने को प्राप्त करता ही है फिर भले ही वह औपशमिक भावात्मक होता अन्तर्मुहूर्त के बाद वीतरागपने से सरागपने में आ जाता है परन्तु वीतरागपने को पाये बिना नहीं रह सकता इसलिये अष्टमादि गुणस्थानों को शुद्धोपयोग में सम्मिलित किया गया है, चतुर्थादिगुणस्थानों को नहीं, ऐसा समझना चाहिये।

किञ्च, चतुर्थादि गुणस्थानों में अनन्तानुबन्ध्यादि कषायों का अभाव होकर भी अप्रत्याख्यानवरणादि कषायों का उदय हो रहता है मगर अष्टमादि गुणस्थान तो अवशिष्ट रही संज्वलन कषाय का अभाव करने रूप ही होते हैं जैसे कि नारियल के ऊपर का शुरु का वक्कल हटा दिया जाय तो उस पर जटा-लता स्पष्ट हो आती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय निकल जाने पर अप्रत्याख्यानावरण कषाय स्फुट हो रहती है, फिर नारियल पर की जटाओं को दूर किया जाने पर जैसे उसके ऊपर की टोकसी दीख पड़ती है वैसे ही अप्रत्याख्यानावरण का भी अभाव होने पर श्रावक के प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय प्रकट होता है। उसका भी अभाव कर

देने पर सकलसंयमी के संज्जवलन कषाय का उदय रहता है जैसे कि टोकसी को भी तोड़कर नारियल का गोला निकाला जाता है मगर उस पर भी लाल छिलका उसका और लगा हुआ बाकी रह जाता है। उसको भी दूर हटाने से गोले की स्वच्छता प्रगट होती है अतः अब उसे दूर करने के लिये पहले तो उसे चाकू वगैरह से गोदते हैं, फिर उसे छीलते हैं सो छीलने में भी कहीं छिलके का अंश रह जाता है या गन्दा हाथ लग जाता है इसलिये उसे दुबारा खुरचना पड़ता है। बस, यही हाल आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में क्रमशः आत्मा का होता है। सकल संयमावस्था में और सब कषायों का उदय दूर होकर जो संज्वलन कषाय शेष रह जाती है उसे भी मिटाने का आत्मप्रयत्न होता है। अतः वहां वस्तुतः मिश्रोपयोग हुआ करता है।

नोट- याद रहे कि नारियल के साथ टोकसी वगैरह सिर्फ उसके ऊपर होती है वैसे ही आत्मा में कषायें नहीं होती, किन्तु आत्मा के उपयोग में कषायें अंश-अंश में होती हैं।

शंकाः- वर्तमान के कुछ लोगों का कहना है कि चतुर्थगुणस्थान से ही शुद्धोपयोग शुरू हो जाता है क्योंकि वहां दर्शनमोह का अभाव हो लेता है अतः उतने अंश में वहां शुद्धता मानने में क्या हानि है ?

समाधानः- दिगम्बर जैनाचार्यों ने तो इसप्रकार किन्हीं ने भी कहा नहीं है। हमारे सर्वमान्य आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने ही अपने 'प्रवचनसार' में लिखा है कि जिस साधु ने अपना तत्त्वार्थविषयक श्रद्धान बिलकुल ठीक कर रखा हो, जो संयम और तप का धारक हो एवं बिलकुल रागद्वेष से रहित हो लिया हो अतः सुख और दुःख में एकसा विचार रखता हो, शुद्धोपयोग वाला होता है। देखो -

सुविदितपयत्थसुत्तो संजमतव संजुदो विगतरागो
समणो समसुहदुक्खो भणिदो शुद्धोपयोगो त्ति ॥२६॥

इस गाथा में आये हुए विदितपयत्थसुत्तः, संयमतपसंयुतः, विगतरागः और समसुखदुःख ये चारों श्रमण के विशेषण हैं और श्रमण उनका विशेश्य, जैसा कि प्रवचनसार

के टीकाकार श्री अमृतचन्द्रचार्य और श्री जयसेनाचार्य भी बतला गये है: सो ऐसी अवस्था मुख्य रूप में तो दसवें गुणस्थान के ऊपर में ही होती है परन्तु अप्रमत्त गुणस्थान से नीचे तो किसी भी तरह नहीं मानी जा सकती है। हां, उनको विशेषणाविशेष्य न मानकर सबको भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र ग्रहण किया जावे और इस तरह से 'सुविदितपयत्थसुत्तो शुद्धोपयोग' अर्थात्र सिर्फ तत्त्वार्थ श्रद्धान वाला जीव भी शुद्धपयोगी होता है ऐसा मतलब निकाला जावे तो फिर 'संयमतप: संयुतोऽपि शुद्धोपयोग:' यानी तत्त्वार्थश्रद्धानशून्य सिर्फ तप: संयम का धारक द्रब्यलिंगी मुनि भी शुद्धपयोगी ठहरेगा इसलिये आचार्यकृत उपर्युक्त अर्थ ही सुसंगत है।

तथा च शुद्धोपयोग में शुक्ल का पर्यायवाची शुद्ध शब्द है और उपयोग शब्द विचार का - ध्यान का पर्यायवाची यानी शुद्धोपयोग कहो या शुक्लधयान कहो, एक बात है: जो कि शुक्लध्यान सातवें गुणस्थान के बाद में शुरू होता है। चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक तो धर्मध्यान ही होता है। ऐसा तत्वार्थ सूत्र की सर्वार्थसिद्धि नाम का टीका वगैरह में लिखा है धर्मध्यान शुभोपयोग रूप होता है: अगर धर्मध्यान को भी शुद्धोपयोग(वीतरागता) रूप ही माना जावे तो फिर शुक्ल ध्यान और धर्मध्यान में अन्तर ही क्या रह जाता है। धर्म शब्द का अर्थ भी जो लोग सिर्फ सहज परिणामिक भाव लेते हैं, वे भूल खाते हैं। धर्म शब्द का सीधा अर्थ परिणमन है जो कि आत्माका दो प्रकार का होता है। एक जो सहजपरनिरपेक्ष दूसरा नैमित्तिक-परसापेक्ष। सो सहजपरिणमन तो वीतरागता रूप होता है। उस वीतरागता रूप परिणमन के साथ एकाग्रता लिये हुए उपयोग का नाम ही शुक्ल (सुद्धर्म) ध्यान है जिसे शुद्धोपयोग कहा जाता है। नैमित्तिक (मोहनीय कर्मोदय के निमित्ति से हुआ) परिणमन रागादिमय होने से अशुद्ध होता है: वह दो प्रकार का होता है- एक तो वह कि रागको अपना स्वरूप ही समझे हुए रहना, वीतरागता की तरफ लक्ष्य ही नहीं होना सो ऐसा उपयोग तो बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव का होताहै जिसे अशुभोपयोग कहते हैं। इसी का नाम अनात्मभाव रूप होने से अधर्म है परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेने पर फिर-मैं नित्य ज्ञानस्वरूप हूं, देह में रहकर भी देह से भिन्न हूं, शरीरादि के साथ ममत्व को लेकर रागादिमान् हो रहा हूं: यदि उस ममत्व को मिटादूं तो वीतराग और सर्वज्ञ हो सकता हूं, इत्यादिरूप से

अपने श्रद्धान में वीतरागता को स्वीकार किये हुए उदारतारूप सद्विचार का नाम ही शुभोपयोग है जो कि अव्रत सम्यग्दृष्टि की दशा में प्रशस्त, देशविरत के प्रशस्ततर और सकलविरत के प्रशस्ततम होता है। आत्मत्व को स्वीकार किये हुये होने के कारण वह धर्म कहा जाकर उसके साथ एकाग्रतारूप चित्तपरिणति का होना ही धर्मध्यान है जो कि तर-तम रूप में चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान के अन्त तक होता है। उससे ऊपर अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में वही शुक्ल (शुद्धपयोग) ध्यान के रूप में परिणत हो जाता है। उससे ऊपरअपूर्वकरणादि गुणस्थानों में वही शुक्ल (शुद्धोपयोग) ध्यान के रूपमें परिणत हो जाता है। जैसा कि श्री आदिपुराणजी में कहा है-

प्रबुद्धधीरधः श्रेण्या धर्मध्यानस्य सुश्रुतः
स एवं लक्षणो ध्याता सामग्रीं प्राप्य पुषकलां
क्षपकोपशम श्रेणायोरुत्कृष्टं(शुक्लं नाम) ध्यानमृच्छति ॥

शंका- यह तो ठीक है: शुक्लध्यान तो सप्तमगुणस्थान से ऊपर में ही होता है मगर शुद्धपयोग तो आत्मीक शुद्धता का नाम है सो चतुर्थगुणस्थान में जब दर्शनमोह नष्ट हो चुका तो उतने रूप में वहां शुद्धपयोग भी हो लिया, ऐसा हम लोग तो समझते हैं।

समाधान:- उपयोग नाम अभिप्राय का है। यह तीन तरह का होता है- अशुभ, शुभ और शुद्ध । उसमें अशुभोपयोग दुरभिप्राय का नाम है जो कि मोह यानि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी रूप कषाय की वजह से वस्तुतत्व के बारे में भुलावे के रूप में होता है- जिससे यह जीव घोर दुर्ध्यान करने वाला होता है। सत्यार्थ श्रद्धानरूप सदभिप्राय का नाम शुभोपयोग है जिसका धारक जीव शुभलेश्या को अपना कर जब वस्तुतत्व के विचार में एकाग्रता से लगा रहता है उस समय उसके प्रशस्त (धर्म) ध्यान होता है। और वही जब अपने रागादि विकारभावों को सर्वथा नष्ट करके निश्चलरूप में अपने शुद्धात्म स्वरूप के अनुभव करने में निमग्न हो लेता है, उस समय उसके शुद्धोपयोग होता है। ऐसा श्री ज्ञानार्णवजी में लिखा है-

पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वद्वस्तुविभ्रमात् ।
कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम् ॥३०॥
पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात् ।
चिन्तनाद् वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते ॥२८॥
क्षीणे रागदिसन्ताने प्रसन्नेचान्तरात्मनि ।
यःस्वरूपोपलम्भःस्यात्सशुद्धख्यः प्रकीर्तितः ॥३१॥ अध्याय ३

शंङ्का:- मिथ्यादृष्टि जीव जब तीव्र कषाय के वश होकर खोटी चेष्टा करता है तो उसके पापरूप अशुभोपयोग होता है ओर वही जब शुभलेश्यावान होकर अच्छी परोपकारादि रूप चेष्टाकरता है तो उसके पुण्य रूप शुभोपयोग होता है परन्तु जब रागादि की सन्तति क्षीण यानी हलकी हो लेती है, अनन्तानुबन्धी रूप नहीं रहती, उस समय उस अन्तरात्मा में अपने आत्मस्वरूप का उपलम्भरूप शुद्धोपयोग हो लेता है, ऐसा अर्थ ले लिया जावे तो क्या हानि होती है?

समाधान:- प्रथम तो क्षीण शब्द का अर्थ बिल्कुल नष्ट हो जाना ही होता है और वास्तविक शुद्धोपयोग पूरी तौर से रागादि भावों के नाश होने पर क्षीणमोह नामक १२वें गुणास्थान में ही होताहै जैसा कि उपर्युक्त श्लोक में लिखा गया है और वही स्वरूपोपलम्भरूप स्वरूपाचरण चरित्र है जैसा कि अपनी 'छहढाला' में पण्डित दौलतरामजी ने भी लिखा है। फिर भी यदि तुम्हारा कहना मान लिया जाए और शुद्धपयोग का आंशिक प्रारम्भ चतुर्थगुणस्थान से हो लेता है, ऐसा अर्थ उक्त श्लोक का लिया जाये एवं शुभपयोग मिथ्यादृष्टि अवस्था में ही होता है ऐसा समझा जाय तो वह ठीक नहीं बैठता: क्योंकि मिथ्यादृष्टि के वस्तुतत्व का चिन्तनरूप प्रशस्तध्यान कभी किसी हालत में नहीं होता: ऐसा इसी 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ में आगे 'गुणदोषविचार' नामक चतुर्थ अध्याय में लिखा है कि 'भले ही गधे के सींग और आकाश के फूल हो जाएँ तो हो जाएँ किन्तु गृहस्थावस्था वालों को प्रशस्तध्यान नहीं हो सकता।' तिस पर भी मिथ्यादृष्टियों को तो स्वप्नमात्र भी सम्यग्ध्यान नहीं हो सकता क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव वस्तुस्वरूप को अपनी इच्छानुसार स्वीकार किये रहताहै। देखो-

खपुष्पमथवा श्रृङ्गं खरस्यपि प्रतीयते।
नपुनर्देशकालेऽपि, ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे।।१७।।
दुर्दृशामपि न ध्यानसिद्धि:स्वप्नेऽपि जायते।
गृह्णतां दृष्टिवैकल्याद्वस्तुजातं यदृच्छया।।१८।।अ.४।।

और भी सूनो देखो-

रत्नत्रयमनासाद्य य:साक्षात् ध्यातुमिच्छति।
खपुष्पै:कुरुते मूढ: स वन्ध्यासुतशेखरम्।।४।।अ.६।।

शंङ्का:- अव्रत सम्यग्दृष्टि के भी धर्मध्यान तो हमारे आगमग्रन्थों में स्पष्ट रूप से लिखा ही हुआ है।

समाधान:- तुम ठीक कहते हो परन्तु अव्रतसम्यग्दृष्टि के जो ध्यान होता है वह भावनात्मक धर्मध्यान होता है, चित्त की एकाग्रता रूप दृढ धर्मध्यान संयमी मुनियों के ही होता है और 'ज्ञानार्णवकार' उसी को धयान कहते हैं:इसलिये तो ऐसा लिखते हैं। देखो 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ अध्याय २५ में-

एकचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानभावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते।।१६।।

अस्तु, यह सब लिखने का आचार्य श्री का स्पष्ट मतलब यही है कि शुभोपयोग चतुर्थगुणस्थान से शुरू होता है और धर्मध्यान भी, जो कि उत्तरोत्तर विशद से विशद होते हुए जाकर सातवें गुणस्थान के अन्त में पूर्ण होता है, जहां पर कि रूपातीत नाम का सुदृढ. धर्मध्यान हो लेता है और वही धर्मध्यान उससे ऊपर में शुक्लध्यान शुद्धोपयोग के रूप में परिणत होकर दसवें गुणस्थान के अन्त में सम्पन्न होता है: उससे नीचे अष्टमादि गुणस्थानों में तो वह पूर्ण वीतरागरूप न होकर विद्यमान रागांश को मिटाने में तत्परतारूप अपूर्ण होता है जिसके साथ वहां पर रागांश भी यत्किंचित् होता ही है, जैसा कि जिनागम का कहना है।

ओर जबकि वहां भाव में रागांश विद्यमान होता है अत: उतना बन्ध भी होता ही है, इसलिये वहां ज्ञानचेतना नहीं किन्तु वहां भी अज्ञानचेतना ही होती है, सो बतलाते है-

आसाम्परायं सुदृशो ऽप्यबोधसंचेतनेत्यर्हदधीतिबोध:।
ततोऽत्र बन्धोऽथ पुनर्नजातु स्याज्ज्ञानसंचेतनया प्रमातु॥७४॥

अन्वयार्थ:- (आसाम्परायं सुदृशोऽपि अबोधसंचेतना-भवति) कषाय अवस्था तक सम्यग्दृष्टि के भी अज्ञानचेतना होती है (इति अर्हत अधीति-आगम बोध:) ऐसा जैनागम का कहना है। (तत: अत्र: बन्ध:) और उसी कारण यहां बन्ध होता है। (पुन: अथ ज्ञानसंचेतनया प्रमातु: जातु न स्यात्) ‍पुनत: तत्पश्चात् ज्ञानचेतना ही होने से ज्ञाता जीव के कभी बन्ध नहीं होता ॥७४॥

विशेषार्थ:- मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव के ता कर्म तथा कर्मफलरूप अज्ञानचेतना होती ही है किन्तु सम्यग्दर्शनधारक जीव के भी दसवें गुणस्थान तक, जहां तक जरा सा भी कषायभाव विद्यमान रहता है, वहां तक अज्ञानचेतना ही होती है जिसके द्वारा उसके कर्मबन्ध होता रहता है। दसवें गुणस्थान से ऊपर कषायों का अभाव हो जाने से इस आत्मा के ज्ञानचेतना होती है, जिससे नवीन कर्मबन्ध का सर्वथा अभाव हो जाता है, ऐसा श्री जैनागम का कहना है। जैसा कि श्री समयसारजी की इस गाथा में स्पष्ट कहा गया है-

अण्णाणमवो भावो अणाणिणों कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि॥१३७॥

अज्ञानी जीव के अज्ञानभावना यानी चेतना होती है जिसे वह कर्मबन्ध करता है परन्तु ज्ञानी जीव के ज्ञानभावना यानी चेतना हो लेती है जिससे फिर वह कर्मबन्ध नहीं किया करता है। मतलब यह कि जहां तक जीव कुछ भी नवीन बन्ध करता रहता है वहां तक वह अज्ञानी है, उसके अज्ञानचेतना है जैसा कि आगे चलकर श्री

समयसारजी की गाथा संख्या ३८९ में भी बतलाया गया है।

ज्ञान या अज्ञान चेतना का खुलासा

जो वस्तु को सिर्फ उदासीनभावसे जानता मात्र हो उसे ज्ञान कहते हैं और जो साथ में इष्टानिष्ट विकल्प को लिये हुए रागद्वेषात्मक हो उस ज्ञान को ही आचार्यों ने अज्ञान बतलाया है: चेतना नाम तद्रूपपरिणमन का है। इस प्रकार ज्ञान चेतना कहो चाहे शुद्धपयोग कहो, दोनों एक बात है, जिसके होने पर बिल्कुल बन्ध नहीं होता। इससे उलटी अज्ञान चेतना होती है जिसके कि होने पर बन्ध हुए बिना नहीं रहता। यानी अज्ञान चेतना आत्मा के अशुद्धपरिणमन का ही नाम है 'समयसार' ग्रन्थ में लिखा है-

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं किरंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि॥९२॥

अर्थात् पर को अपनाने वाला अथवा यो कहो कि अपने आपको पर यानी विकार रूप करनेवाला जीव, अज्ञानचेतना का धारक होता है जो कि निरन्तर नवीन बन्ध करता रहता है। परन्तु जो पर-पदार्थों को बिल्कुल नहीं अपनाता, उनसे सर्वथा दूर हो रहता है, अपने आपको कभी भी विकृत नहीं होने देता अत: जो नूतन कर्मबन्ध करने से रह जाता है वही ज्ञानचेतनावान होता है, जैसा कि वहीं उसके नीचे लिखा गया है-

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि॥९३॥

एवं दोनों तरह से लिखने का आचार्यश्री का स्पष्ट मतलब यही है कि जो जरा सा भी नूतन कर्मबन्ध करने वाला है वह अज्ञानी जीव है, अज्ञानचेतनावान है। इसीलिये इससे आगे की गाथा में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि यहां पर अज्ञान शब्द का अर्थ- अतत्त्वश्रद्धान, चञ्चलज्ञान और अविरत परिणमन-ये तीनों ही लेना चहिये जैसा कि चौरानवें नम्बर की गाथा की टीका मे श्री अमृतचन्द्राचार्यजी ने भी

लिखा है-एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो भावः, स मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्ययपरिणामः। यानी आचार्य महाराज का कहना है कि जहां तक भी आत्मा में विकार भाव हे, फिर चाहे वह विपरीताभिनिवेश रूप हो या इष्टानिष्ट विचार रूप एवं चपलता रूप, किसी भी प्रकार का हो, सभी आज्ञनचेतनमय होता है। हाँ, यह बात अवशय है कि आत्मा का यह अज्ञानचेतनारूप अशुद्ध परिणमन भी दो तरह का होता है- एक तो अशुभोपयोग, दूसरा शुभोपयोग। सो मिथ्यादृष्टि अवस्था में तो अशुभोपयोगरूप अज्ञानचेतना परिणाम होता है, जो घोर कर्मबन्ध करने वाला होता है किन्तु सम्यग्दर्शन हो जानेपर भी जहां तक रागांश रहता है वहां तक शुभोपयोगरूप अज्ञानचेतनापरिणाम गृहस्थों के ही नहीं अपितु मुनियों के भी होता है जिससे स्वल्प या स्वल्पतर नूतन कर्म बन्ध होता ही रहता है। जहां उपयोग की शद्धतारूप ज्ञान चेतना हुई कि बन्ध का अभाव हो लेता है: ऐसा प्रवचनसारजी में भी लिखा है-

समणासुद्धवजुत्ता सुहोवजुत्ता या हौंति समयाह्मि।
तेसु वि सुद्धवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा।।२४५।।

तात्पर्य यही है कि श्री समयसारजी में जिसको ज्ञानभाव या ज्ञानचेतना नाम से लिया गया है, उसी को प्रवचनसारजी में शुद्धोपयोग शब्द से कहा गया है, जो कि स्पष्ट वीतरागता रूप होता है और जिसके हो जाने पर फिर कर्मबन्ध होने से रह जाता है: जो कि वस्तुतः दसवें गुणस्थान से ऊपर होता हे, उससे पहले नहीं होता।

इतना सब कुछ होनेपर भी कुछ जैन भाइयों काविचार है कि जहां चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन हुआ कि उसके साथ ही साथ वहां ज्ञानचेतना भी हो जाती है और इसके साथ ऐसा भी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होनेपर कर्मबन्ध होने से भी रह जाता है जैसा कि श्रीसमयसारजी की गाथा में लिखा है-

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जागदि सो ते अबंधंतो।।१७४।।

परन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि आचार्यश्री ने इस गाथा में सम्यग्दृष्टि शब्द से वीतरागसम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया है जैसा कि श्रीजयसेनाचार्यजी ने इसकी उत्थानिका में लिखा है। श्री समयसारजी का प्राय: वर्णन वीतराग सम्यक्त्व को लेकर ही चलता है ऐसा ग्रन्थ के अध्ययन से भी स्पष्ट हो जाता है। जो कि वीतराग सम्यक्त्व दसवें गुणस्थान से ऊपर होता है और जहां पर आत्मा सचमुच नवीन कर्मबन्ध करने से रहित हो जाता है क्योंकि भावास्रव (रागद्वेषपरिणाम) का उसके बिल्कुल अभाव हो लेता है। अत: वह अपने प्रसंग प्राप्त पूर्वबद्ध कर्मों का जानता मात्र है किन्तु उनके निमित्त से जरा सा भी विकृत नहीं होता। उसका उपयोग सर्वथा शुद्ध होता है, ज्ञानचेतनामय होता है, सो ठीक ही है। परन्तु एक 'सम्यग्दृष्टि' शब्द को लेकर उसी बात को 'सरागसम्यग्दृष्टि' से भी घटित करना ठीक नहीं होता क्योंकि -

देवायुषो बन्धनमप्रमत्त-गुणस्थलान्तं क्रियते जगत्त:।
दैवे भवे तस्य सतो मनुष्यायुषोऽपि बन्ध: सुतरामनुस्यात्॥७५॥

अन्वयार्थ:- (जगत्त:) संसार से (अप्रमत्तगुणस्थलान्तं) अप्रमत्तगुणस्थान तक (देवायुष: बन्धनं क्रियते) देवायु का बन्ध किया जाता है। (दैवे भवे) देव के भव में (तस्य सत:) उस सम्यक्त्वी पुरुष के (मनुष्यायुष: बन्ध: अपि सुतराम् अनुस्यात्) मनुष्याय् का बन्ध भी अच्छी तरह होता है। (ताकि आगामी मनुष्य भव पाकर वहां इस आयुकर्म को भोगता है।)॥७५॥

विशेषार्थ:-सम्यग्दर्शन हो जाने पर यथासम्भव ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध तो अव्रत सम्यग्दृष्टियादि जीवों के भी होता ही है, साथ में सातवें गुणस्थान तक तो देवायु: कर्म का भी बन्ध होता है तथा देव हो जाने पर उसी सम्यग्दृष्टि जीव के मनुष्यायु: कर्म का बन्ध भी होता है जिससे कि वह भी मनुष्य होकर मिथ्यादृष्टियों की सी भूलभरी चेष्टा किया करता है जैसे श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण के शव को भी छह माह तक लिये-लिये घूमते रहे। भरत जी ने आवेश में आकर बाहुबली पर चक्र चला दिया, इत्यादि फिर भी उनके ज्ञानचेतना जाग्रत ही कही जावे, यह कैसे हो सकता है; इस पर शंका -

कर्मान्यदन्यत्र न कार्यकारि, किं वृत्तमोहाऽस्तु दृशे किलारि:।

इत्थं वचश्चेन्निगदाम्यतोऽहं ज्ञाने मृषात्वाय न दृष्टिमोहः ॥७६॥

अन्वयार्थः- (किल) ऐसा कहते हैं-(अन्यद् कर्म अन्यत्र न कार्यकारि) अन्य कर्म अन्य जगह कार्यकारी नहीं होता। (वृत्तमोहा दृशेः अरिः किमस्तु) चारित्रमोह दर्शनमोह में शत्रु कार्यकारी हो सकता है क्या, कुछ नहीं। (चेत् इत्थं वचः निगद्यते) यदि ऐसी बात कही जाती है (अतः अहं निगदामि) तो इस कारण से तो मैं कहता हूं कि (दृष्टिमोहः ज्ञाने मृषात्वाय न भवितुं अर्हति) फिर तो ज्ञान में मिथ्यात्व लाने वाला दर्शनमोह जो कहा गया है, वह बात फिर नहीं होनी चाहिये ॥७६॥

विशेषार्थः- अर्थात् यह सब खेल तो उन-उन सम्यग्दृष्टियों के जो चारित्रमोह विद्यमान था उसके उदय से हो गया, ऐसा कहना चाहिये। चारित्रमोह जुदी चीज है और सम्यक्त्व उससे जुदी चीज है जो कि दर्शनमोह के अभाव से प्रकट होता है। चारित्रमोह का उदय अपना कार्य करता है, वह चारित्र में दोष पैदा करता रहता है सम्यग्दर्शन और ज्ञान से उसका क्या सम्बन्ध है? जैसा कि राजमलजी काष्ठासंघीकृत पंचाध्यायी में लिखा है -

पाकाच्चारित्र मोहस्य रागोऽस्त्यौदयिकः स्फुटं।
सम्यक्त्वे स कुतोन्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥१२८॥

अर्थात् सम्यक्त्व तो क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिकभाव रूप होता है। ज्ञान अव्रतसम्यग्दृष्टि के क्षायोपशमिक भावरूप हुआ करता है, किसी कर्म के उदय से नहीं होता है अतः चारित्रमोह के उदय से होने वाला औदयिकभाव जो है वह सम्यक्त्व में या ज्ञान में दोषकारक नहीं हो सकता, वह तो चारित्र में ही दोष पैदा करेगा।

अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः।
नूनं हन्तुं क्षमो न स्याज्ज्ञानसंचेतनामिमाम् ॥१२७॥

सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का बन्धोदय न होने से

अप्रत्याख्यानावरणादिरूप रागद्वेष, ज्ञानचेतना में बाधक नहीं हो सकते। एवं च फिर सम्यक्त्व के सराग और वीतराग ऐसे दो भेद न होकर वह तो सदा एक ही सा रहता है जैसा कि इस श्लोक में लिखा है -

तस्मात् सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि।
तद्यथाऽवश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥९३३॥

मतलब यह कि सम्यक्त्व का तो दर्शनमोह के अभावस्वरूप एक ही लक्षण सब जगह विद्यमान रहता है अत: सम्यक्त्व तो एक ही होता है और जब सम्यक्त्व एक है तो उसके साथ में होने वाली ज्ञानचेतना भी फिर उसमें सब जगह सदा रहती है। उसमें चारित्रमाह के उदय से होने वाला राग कुछ भी बाधा नहीं करता क्योंकि अन्य कर्म का उदय अन्यत्र क्यों बाधा करने लगा?

उपर्युक्त शंका का उत्तर—सो अगर ऐसा मान लिया जावे तो फिर ज्ञान में मिथ्यापन लाने वाला दर्शनमोह को जो कहा गया है, वह भी नहीं होना चाहये। द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि के ग्यारह अंग और नौ पूर्व के ज्ञान को जो मिथ्याज्ञान कहा गया है, सो भी क्यों? क्योंकि वहां श्रुतज्ञानावरणीयकर्म को तो क्षयोपशम होता ही है। वहां पर तो दर्शनमोह के उदय से ही ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है। तथा च—

चारित्रमोह: सुतरामनन्तानुबन्धिनामाकथित: समन्तात्।
अभावतोयस्य विना न सम्यग्दृष्टिर्भवत्येष विवेकगम्य: ॥७७॥

अन्वयार्थ:- (अनन्तानुबंधिनामा) अनन्तानुबन्धी नामवाली क्रोधादि कषायें (सुतरां [अतिशयेन] चारित्रमोह: कथित:) स्पष्टत: चारित्रमोहनीय कर्म कहा गया है। (यस्य समन्तात् [समपूर्णत:] अभावतो विना) जिसके पूर्ण अभाव के बिना (एष: विवेकगम्य: सम्यग्दृष्टि: किल न भवेत्) यह विवेकगम्य (आत्मा) सम्यग्दृष्टि निश्चय ही नहीं हो पाता है ॥७७॥

विशेषार्थ- अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ रूप भाव, चारित्र मोहकर्म

का ही तो प्रभाव है जिसके दूर हुए बिना यह आत्मा सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता अत: यह कहना ठीक नहीं कि एक कर्म का कार्य, दूसरा कर्म कभी किसी हालत में भी नहीं कर सकता। किञ्च दर्शनमोहकर्म और चारित्रमोह कर्म सर्वथा भिन्न हैं भी कहां, किन्तु मोहनीयकर्म ही के तो दो भेद हैं अत: मोहनीयत्वेन दोनों एक ही तो हैं और तब फिर यह बात ठीक ही हो जाती है कि सम्यग्दृष्टि जीव के जब तक चारित्रमोह का सद्भाव रहता है तब तक उसका सम्यक्त्व सराग रहता है और चारित्रमोह के अभाव में वह वीतरागसम्यक्त्व हो लेता है। सरागदशा में उसक सत्कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनारूप अज्ञानचेतना होती है किन्तु वीतरागदशा में ज्ञानचेतना।

इस पर फिर शंकाकार कहता है कि -

दृग्मोहनाशान्ननुजायमानं सुदृक्त्वमेकं सुविधानिधानम्।
कुतोत्र भो रक्तविरक्तनाम-भेदं गुणे वस्तुतयेतियाम: ॥७८॥

अन्वयार्थ:- (अत्र प्रश्न:) (यहां यह श्लोक प्रश्न रूप है कि) (दृङ् मोहनाशात्) दर्शनमोह के नाश से (अनुजायमानं) उत्पद्यमान (सुदृक्त्वम्) सम्यग्दृष्टिपना (सुविधानिधानम्) जो कि सुख का खजाना है, (एकम् एव) वह तो एक ही है। (भो:अत्र गुणे रक्त-विरक्त-नामभेदं) अरे! यहां तो सम्यक्त्वगुण में सराग व वीतराग ऐसा मात्र नाम भेद है (वस्तुतया कुत: ?) वास्तव में कैसे भेद हो सकता है? (इति याम:) [=गच्छाम:=(प्राप्नुम:=जानीम:) गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वादिति (रा० वा० ५/२/१/४२६) ऐसा हम समझे हैं॥७८॥

विशेषार्थ- आपने कहा सो तो सुना बाकी सम्यक्त्व तो वहीं एक है जो कि तीन तो दर्शनमोह की और चार अनन्तानुबन्धी की इन सात प्रकृतियों के अभाव से हुआ है और जिसके होने से यह आत्मा मोक्ष का पात्र हो जाता है। उसमें सरागता और वीतरागता जो हाती है वह तो इतनी ही है कि जो राग सहित हो या चारित्ररहित हो वह तो सराग और जो रागरहित वा यथार्थ चारित्र सहित हो वह विरागसम्यक्त्व। सो यह तो वैसा ही भेद हुआ कि देवदत्त, यज्ञदत्त सहित हो या उससे रहित अकेला

हो सो यह तो सिर्फ व्यपदेशात्मक भेद हुआ, वास्तविक भेद क्या हुआ? कुछ भी नहीं हुआ।

अत्रोच्यते स्पष्टतया मयेदं दृग्ज्ञानवृत्तेषु न वस्तुभेदः।
विवेचनैवात्मनि दर्शनेन ज्ञानेन वृत्तेन किलेत्यनेनः॥७६॥

अन्वयार्थः- (अत्र मया इदं स्पष्टतया उच्यते) यहां मेरे द्वारा यह स्पष्टतया कहा जाता है कि (दृग्ज्ञानवृत्तेषु न वस्तुभेदः) दर्शन, ज्ञान और वृत्त में वस्तुभेद (पदार्थभेद) नहीं है। ([इयं तु] आत्मनि) (यह तो) आत्मा में [दर्शनिन, ज्ञानेन (च) वृत्तेन किल विवेचना एव] दर्शन से, ज्ञान से या चारित्र से विवेचना मात्र की जाती है, (समझाने के लिये)। [इति अनेनः (अन्+एनः)] इस प्रकार (कहने में) काई दोष नहीं है॥७६॥

विशेषार्थः- उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर गह है कि श्रद्धान ज्ञान और आचरण यानी मानना, जानना और अनुभव करना ये तीनों बाते किसी छबड़ी में आम, नींबू और नारंगी की भांति वस्तुतः आत्मा में भिन्न-भिन्न हैं क्या? किन्तु नहीं। ये तीनों तो आत्मा के परिणाम हैं जो कि आत्मा के साथ में अनुस्यूत हैं। सिर्फ इनके द्वारा आत्मा का विवेचन होता है जैसे कि अग्नि को जब हमें किसी दूसरे की समझाना होता है तो उसके दाहकपन, पाचकपन और प्रकाशकपन के द्वारा उसे हम समझने और समझाने लगते हैं परन्तु जहां भी अग्नि के इन तीनों गुणों में कुछ कमी आई, तीनों में से एक में भी अगर कुछ कमी आई कि खुद अग्नि में ही कमी हो जाती है, एवं जहां अग्नि में कमी आई तो फिर उसके शेष गुणों में भी कमी होना सहज ही है। बस, तो यही हाल दर्शनज्ञान और चारित्र के साथ में आत्मा का है जैसा कि समयसारजी की इस गाथा में कहा गया है -

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥७॥

अर्थात् आत्मा एक वस्तु है, गुणी है और अनन्तधर्मात्मक है उस आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों खास गुण हैं सो कहने मात्र के लिये तो ये

तीनों भिन्न-भिन्न हैं। दर्शन यानी देखना या श्रद्धान करना। ज्ञान यानी जानना या समझना। चारित्र यानी चलना या लीन हो रहना। मगर जब गहराई से सोचें तो आत्मा से भिन्न न तो कोई दर्शन ही है, न ज्ञान ही और न चारित्र ही; अपितु तीनों मय यह एक आत्मा ही है। जब ये बिगड़े हुए है तो आत्मा ही बिगड़ रहा है और इन तीनों के सुधरने से आत्मा ही सुधरता है और सुधार का नाम ही सम्यक्त्व है सो बताते हैं -

सम्यक्त्वमेतन्नगुणोऽस्त्यवस्था तेषां च मिथ्यात्वमिवव्यवस्था।
स्यूतेः समं तूर्यगुणस्थेऽतो भवेत् प्रपूतिर्भवसिन्धु सेतोः ॥८०॥

अन्वयार्थः- (एतत् सम्यक्त्वं गुणो न) यह सम्यक्त्व गुण नहीं है (किन्तु तेषां) किन्तु उन गुणों की (मिथ्यात्वम् इव) मिथ्यात्व के समान (वा स्यूतेः समं) अथवा सम्यग्मिथ्यात्व के समान [व्यवस्था (विशिष्टाः अवस्था व्यवस्था इति)] अवस्था विशेष है। (अतः) इस कारण से (भवसिन्धुसेतोः) संसार-सागर से पार होने के लिये पुल के समान उस सम्यक्त्व की (पूर्तिः तूर्यगुणस्थले भवेत्) चतुर्थ गुणस्थान में होती है। (सम्यक्त्व प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्वरूप होने से सर्वथा विकृत है। द्वितीय गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के उदय से दूषित है और तृतीय गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से उभयरूप होने से अनुस्यूत है (मिश्रित) उसकी पूर्ति चतुर्थ गुणस्थान में होती है, अर्थात् सम्यक्त्व सही रूप में चतुर्थ गुणस्थान में प्रकट होता है।)

विशेषार्थः- सम्यक्त्व यह उन गुणों की सुधरी हुई अवस्था का नाम है जैसा कि बिगड़ी हुई हालत का नाम मिथ्यात्व। जहां भी सम्यक्त्व को गुण कहा गया है वह प्रशंसात्मक रूप में है, जैसे किसी भी चीज के सुहाते हुए रूप को तो गुण कहते हैं और उसके न सुहाते हुए उसी रूप को हम अवगुण कहा करते हैं, वैसी ही बात यहां पर भी है। सो मिथ्यात्व अवस्था तो अनादि से चली आ रही है और सम्यक्त्व अवस्था चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होती है। मतलब यह कि जब इस जीव का संसार खत्म होने को होता है तो उन गुणों की बिगड़ी हुई हालत जहां से सुधरना

शुरू होती है उसे चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं। यहां से सुधरते-सुधरते वह चौदहवें गुणस्थान में जाकर अपनी पूरी ठीक हालत में पहुंचती है जैसे कि कपड़ा धुलते-धुलते कुछ देर में साफ हो पाता है। सो वह आत्मसुधार दो तरह से होता है-एक तो यत्नसाध्य, दूसरा उसके अनन्तर अनायास रूप से होने वाला। सो वही बताते हैं -

प्रयत्नवानादशमस्थलन्तु, यतोऽयमात्मा व्यवहारतन्तुः।
निसर्गभावेन निजात्मगूढस्ततः पुनर्निश्चय-मार्गरूढः ॥८१॥

अन्वयार्थः- (आदशमस्थलम् तु अयम् आत्मा प्रयत्नवान्) दसवें गुणस्थान तक तो यह आत्मा प्रयत्नवान् होता है (अतः) अतः (व्यवहारतन्तुः) व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है। (पुनः ततः) पुनः आगे (निसर्गभावेन निजात्मगूढः) सहजभावेन निजात्म गुणों की वृद्धि करता है (अतः निश्चयमार्गरूढः) (इसलिये वहां यह जीव) निश्चयमार्ग पर आरूढ़ कहा जाता है॥८१॥

विशेषार्थः- चतुर्थ गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक तो यह आत्मा अपने आपे में से रागादिभावरूप मलको दूर करते हुए, प्रयत्नपूर्वक अपने सम्यग्दर्शनादिगुणों का विकास करता है, अतः वह तो-विशेषेण यत्नपूर्वकम् दोषस्यावहारो यत्र स व्यवहारः इस प्रकार की निरुक्ति लेकर व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है। परन्तु उसके बाद चौदहवें गुणस्थान तक यह आत्मा अपने उन गुणों की सहज पुष्टि प्राप्त करता है इसलिये निसर्गेण, निसर्गस्य वा चयनं यत्र स निश्चयः, इस प्रकार अर्थ को लेकर निश्चय मोक्षमार्ग होता है। अर्थात् दर्शन-मोह के उपशमादि द्वारा तत्त्वार्थश्रद्धान प्राप्त करते हुए, चतुर्थगुणस्थान में जो सम्यग्दर्शन होता है वह व्यवहार सम्यग्दर्शन और तत्पूर्वक अणुव्रत, महाव्रतादि का पालन करना सो व्यवहार सम्यक्चारित्र एवं उनके साथ जो सचेष्ट सम्यग्ज्ञान हो वह व्यवहारसम्यग्ज्ञान होता है।

शंकाः- हम तो समझते हैं कि श्री अरिहन्तदेव, निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरु और दयामय जैनधर्म पर विश्वास लाना, सो व्यवहार सम्यक्त्व है जो कि मिथ्यात्वावस्था मे ही हो लेता है। उसके बाद, दर्शनमोह गलकर जब सत्यतत्त्वार्थश्रद्धान होता है वह

तो चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव का निश्चय-सम्यग्दर्शन ही है; भले ही उसे आनुषंगिकरूप में सराग कहा जाता है।

उत्तर:- यह बताओ कि जिसको श्री अरहन्तदेव पर विश्वास है उसको उनके स्वरूप, सर्वज्ञत्व और वीतरागत्व पर विश्वास है या नहीं ? अगर नहीं, तब तो उसका अरहन्त विषयकश्रद्धान भी बनावटी है, क्योंकि स्वरूप के बिना स्वरूप वाले का विश्वास कैसा ? अत: वह उसका श्रद्धान, श्रद्धानाभास है-मिथ्यात्व ही है और उसी को सम्यक्त्व मानना या कहना तो भूल है, व्यवहाराभास है। और यदि अरहन्त के सर्वज्ञत्व एवं वीतरागत्व पर विश्वास है तो फिर वह सप्ततत्त्वविषयकश्रद्धानसे भिन्न चीज नहीं है क्योंकि राग का निरसन ही वीतरागत्व है जो कि राग के सद्भावपूर्वक होता है और राग का होना ही आस्रवबन्धात्मक होकर संसार है एवं उसका अभाव होना ही संवर-निर्जरात्मक होकर अन्त में मोक्ष पाना है। इसलिये ऐसा सप्त तत्त्व विषयक, श्रद्धान या श्री अरहन्त के स्वरूपविषयक श्रद्धान, मोह गले बिना हो नहीं सकता, जो कि चतुर्थगुणस्थान में होता है। जिसका गुणगान 'स्वामी समन्तभद्राचार्य' श्री ने अपने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में किया है कि यह सम्यग्दृष्टि स्वर्ग जाकर तो इन्द्र होता है, वहां से आकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती इत्यादि पद प्राप्त करता है। नारकीय शरीर, पशु-शरीर, नारीपन, नपुंसकपन सरीखों हीनदशा को नहीं पाता, इत्यादि। हाँ, वहां पर सत्यार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन को पाकर भी वहां अंकुरित हुए अपने सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र को बढ़ाने के लिये एवं अपने सम्यक्त्व को अधिक से अधिक चमकाने के लिये सचेष्ट होता है। अपनी आत्मा में लगे हुए रागादिमल को दूर करने में प्रयत्नशील होता है अत: उसके इस कर्त्तव्य को व्यवहार मोक्ष-मार्ग कहा जाता है; जो कि कपड़े को पानी और साबुन से धोकर साफ करने के समान है। इसके बाद बारहवें गुणस्थान में स्पष्टशुक्लध्यान के द्वारा उसके पूर्वबद्ध ज्ञानावरणादि घातित्रय कर्म दूर किये जाते हैं जैसे कि धुल जाने के बाद कपड़े को निचोड़ कर उसमें होने वाला जल निकाल दिया जाता है, फिर सूख कर कपड़ा अपने आप निखर जाया करता है। वैसे ही आत्मा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में पहुंचकर मुक्त हो लेता है। उनके विकास क्रम को नीचे स्पष्ट करते हैं -

आसप्तमान्तमं प्रथमन्तु तूर्याच्छ्रद्धान माहुर्जिनवाचिधूर्याः।
सद्वृत्तिरूपं चरणं श्रुतं च तथैव नाम व्यवहारमंचत्॥८२॥

अन्वयार्थः- [धुर्याः जिनवाचि तूर्यात् (=चतुर्थात्) आसप्तमान्तं [=सप्तमगुणस्थानपर्यन्तम्] प्रथमं श्रद्धानम् (=प्रथम सम्यक्त्वम्) आहुः (ब्रवन्ति)] भगवान जिनवाणी में चौथे से सातवें तक प्रथम सम्यग्दर्शन कहते हैं। (तत्र सञ्जायमानं च) और वहां होने वाला (चरणं सद्वृत्तिरूपं) चारित्र तो सदाचार रूप है (च तथैव) और उसी तरह (अञ्चत् श्रुत) वहां का प्रकट श्रुतदान (व्यवहारं [श्रुतं] नाम) प्रकट व्यवहार श्रुतज्ञान है, ऐसा निश्चय है॥८२॥

विशेषार्थः- चतुर्थ गुणस्थान में जब सम्यक्त्व प्रगट होता है तो तीन दर्शनमोह की और चार अनन्तानुबन्धी क्रोधमानमायालोभ नाम वाली इन सात प्रकृतियों को दबा देने से यहां पर इस भव्य आत्मा में निर्मलता आती है, वैसे ही ज्ञानावरणीय का भी कुछ विशिष्ट क्षयोपशम होता है, ताकि गुरु की वाणी को या तत्त्वों के स्वरूप को ठीक ग्रहण कर सके और समझ सके। जैनशासन के जानकार लोग चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक के सम्यग्दर्शन को तो प्रथम सम्यग्दर्शन और वहां होने वाले सत्प्रवृत्तिरूपचारित्र को सदाचार तथा उसक श्रुतज्ञान को व्यवहारश्रुतज्ञान कहते हैं, मतलब यह कि पहले-जो यह शरीर है सो ही मैं हूं ऐसा विश्वास था, वह बदल कर चतुर्थगुणस्थान में यह विश्वास हो जाता है कि इस जड़ शरीर से मैं भिन्न चीज हूं, चिन्मय हूं। वैसे ही इच्छानुसार खाना, पीना, पहनना इत्यादि में ही सुख है, ऐसा अनुभव था, इसलिये अन्धाधुन्ध इनमें प्रवृत्ति करता था, परन्तु अब मानता है कि सुख तो मेरी आत्मा का गुण है अतः वर्तमान असह्य कष्ट के प्रतीकारस्वरूप विषयों का अनुभव करता है जिससे समयोचित विचारपूर्वक प्रवृति करने लग जाता है। पहले तो समझता था कि मुझे जो कुछ ज्ञान है वह इन इन्द्रियों से ही हो रहा है, अतः इन्द्रियों का दास बना हुआ था, किन्तु अब सोचता है कि ज्ञान तो मेरी आत्मा का निजगुण है जो कि मुझमें है। वह वस्तुतः सदा अतीन्द्रिय ही है, उसी के द्वारा मैं जानता हूं। हां, यह बात दूसरी है कि जब तक छद्मस्थ हूं तब तक इन्द्रियों की ही

नहीं, अपति बाह्यप्रकाशादि की भी सहायता लेनी पड़ती हैं, जैसे कि चिरकाल का अल्पशक्तिरोगी जब चलना चाहता है तो चलता तो आप ही है, परन्तु किसी दूसरे के कन्धे इत्यादि के सहारे चलता है, उसके बिना नहीं चल सकता।

शंका:- तो क्या छद्यस्थ को इन्द्रियों के बिना ज्ञान नहीं हो सकता ? अगर हां, तो फिर यह मान्यता तो मिथ्यादृष्टि की है ही कि इन्द्रियों से ज्ञान होता है जो कि गलत मान्यता है क्योंकि इसमें तो निमित्त और उपादान एक ही हो जाता है।

उत्तर:- ज्ञान का होना क्या? ज्ञान तो आत्मा का गुण है जैसा कि ऊपर बताया गया है। वह हर एक की आत्मा में सदा से है। वह निगोदियालब्ध्यपर्याप्तक से लेकर केवलज्ञानी भगवान की आत्मा तक में अखण्ड रूप से विद्यमान रहता है। परन्तु उसका कार्य पूर्ण ज्ञानी के तो निस्सहाय होता है और अल्पज्ञ का ज्ञान अपना कार्य इन्द्रियादि की सहायता से करता है। इसमें उपादान और निमित्त एक कैसे हो गया। उपादान तो आत्मा है या ज्ञान की तत्पूर्वपर्याय है। इन्द्रियादिक तो सहकारी निमित्त होते हैं सो जैसा निमित्त पाता है, छद्मस्थ का ज्ञान उसके अधीन होकर चलता है। यह तो वस्तु का वस्तुत्व है, अगर इसको भी नहीं मानने वाला ही सम्यग्दृष्टि होता है तब तो तुम्हारी समझ में फिर सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आंखें कमजोर हो जाने पर अपनी आंखों पर ऐनक लगा कर भी काम नहीं निकालता होगा? अथवा पुष्पदन्त क्षुल्लक के कहने पर अपनी विक्रिया ऋद्धि का ज्ञान करने के लिये हाथ फैलाने वाले विष्णुकुमार स्वामी भी फिर मिथ्यादृष्टि ही होंगे। किन्तु "असुहादोविणिवित्तीसुहेपवित्तीयजाण चारित्तं" इस गाथार्द्ध के अनुसार अशुभ से दूर हट कर शुभ में प्रवृत्ति करना यही तो चारित्र यानी सम्यग्दृष्टि का कार्य है और इसी में समझदार की समझदारी होती है। संसार की तरफ का बल रखनेवाली बात अशुभ और मुक्ति की तरफ का बल देनेवाली बात शुभ होती है, जिसमें कि बुद्धिपूर्वक सम्यग्दृष्टिजीव प्रवृत्त होता है, यही उसका सरागपन है।

"आतम हित हेतु विराग-ज्ञान, ते लखे आपको कष्ट-दान॥" दूसरी ढाल।

"रागादि प्रगट जे दुःख दैन, तिनही को सेवत गिनत चैना। 'दूसरी ढाल।

छहढाला की इस उक्ति के अनुसार मिथ्यादृष्टि जीव तो वीतरागता और विज्ञान का सम्पादन करनेवाली बातों को कष्टदायक मानकर उनसे दूर भागता है और जहां पर रागद्वेष को पोषण मिलता हो ऐसी बातों को रूचि के साथ स्वीकार करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टिजीव का कार्य इससे उलटा होता है। वह पूर्वकृत कर्म की चपेट में आकर भले ही विषयभोगों की तरफ लुढक पडता है फिर भी उसके उत्तर क्षण में उसके बारे में पश्चात्ताप करके वीतरागता की बातें को दृढता के साथ बलपूर्वक पकडता है। इसी का नाम सदाचार है जो कि सातवें गुणस्थान तक हुआ करता है, उसके बाद क्या होता है सो बताते हैं-

निवृत्तिरुपं चरणं मुदे वः श्रद्धानमाहाद्दढमेव देवः।
श्रुतं विभावान्वयि सूक्ष्मरागगुणस्थलान्तं शृणु भो निराग॥६३॥

अन्वयार्थः- -(भो निराग। शृणु) हे भले आदमी सुनो। (देवःआह) जिनदेव ने कहा है कि (सूक्ष्मरागगुणस्थलान्तं) दसवें गुणस्थान के अन्त तक (श्रद्धानं अदृढम् एव) श्रद्धान अनवगाढ़ ही होता है (च) (श्रुतम विभावान्वयि) और जो श्रुतज्ञान होता है, वह विभाव के साथ नियम से अन्वय वाला है। (च विभाव-) (निवृत्तिरुपं चरणं) और उन्हीं विभावों की निवृत्तिरुप चारित्र है जो (वःमुदे) हमारी प्रासन्नता के लिये है।

विशेषार्थ- हे भले आदमी सुनो! श्री जिनेन्द्र भगवान ने हमें बताया है कि दसवें गुणस्थान तक जो श्रद्धान होता है वह तो अनवगाढरूप और श्रुतज्ञान जो होता वह आत्मा में होनेवाले वैभाविक परिणामों का बताने वाला होता हे तथा उनसे उत्तरोत्तर बचते चले जाना उन्हें दूर करते रहना, उन्हें अपने में न होने देना, यही वहां पर आत्मा का कार्य रह जाता है जो कि निर्वृत्यात्मक चारित्र कहा जाता है, यह तुम्हारे और हमारे सरीखों के लिये प्रसन्नताकारक माना गया है। जैसे हमारे शरीर में कोई कांटा

चुभ गया हो तो उसे निकालने के लिये वहां के शरीर के अंश को खुरच कर कांटे को ढीला करके निकाला जाता है, वैसे ही श्रद्धान के साथ में जो राग लगा हुआ होता है, उसके उखाड़ बाहर किया जाता है, इसीलिये वहां सम्यग्दर्शन को अनवगाढ़ माना है, जो कि सूक्ष्मसाम्परायनामक दशमगुणस्थान तक होता है । इससे परे-

भावश्रुतज्ञानमतः परन्तु भवेद्यथाख्यातचरित्रतन्तु।
श्रद्धानमेवं दृढमात्मनस्तु गुणत्रयेऽतः परमत्वमस्तु ॥८४॥

अन्वयार्थः- (तु अतः परं) और इसके बाद (यानी दसवें के बाद ग्यारहवें व बारहवें में) (भावश्रुतज्ञानं यथाख्यातचरित्रतन्तु भवेत्) श्रुतज्ञान भावश्रुतज्ञान हो जाता है जिसकी सन्तान यथाख्यात चारित्र है। अथवा भावश्रुतज्ञान तथा यथा ख्यातचारित्रसन्तति वे दोनों उत्पन्न हो जाते हैं। (तु आत्मनः श्रद्धानमः दृढम्) और आत्मा का श्रद्धान दृढ़ हो जाता है (अतः परम्) इसके बाद यानी तेरहवेंख चौदहवें में (गुणत्रये परमत्वम् अस्तु) सम्यक्त्व, ज्ञान व चारित्र इन तीनों गुणों में परमत्वउत्कृष्टत्व हो जाता है॥८४॥

विशेषार्थः- ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में जाकर श्रद्धान अवगाढ़रूप बनता है जहां पर कि चारित्र पूर्ण वीतरागतारूप आत्मतल्लीनता को लिये हुए यथाख्यात बन जाता है और श्रुतज्ञान भी भावश्रुतज्ञान हो जाता है; क्योंकि वहां पर और सब बातों को भुला कर सिर्फ अपनी शुद्धात्मा के परिणामों का ही विचार रह जाता है। उस समय इस आत्मा के उपयोग में शुद्धरूप आत्मभावों के सिवाय और कुछ नहीं होता अतः वास्तविक श्रुतकेवली कहलाने का अधिकारी भी हो लेता है जैसा कि 'समयसार' जी में बतलाया गया है -

जोहि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा॥९॥

यद्यपि क्षयोपशम की अपेक्षा से तो इसके द्वादशांगज्ञान होता है क्योंकि उसके बिना जैसा कि 'तत्त्वार्थसूत्र' जी में बतलाया गया है, शुक्लध्यान का प्रारम्भ ही नहीं

कर सकता है, मगर यह अपनी इस नि:केवल आत्मभावना के द्वारा घातिया कर्मों का नाश करने में प्रस्तुत होता है, इसकी इस आत्मानुभवरूप अवस्था का नाम ही ज्ञानचेतना है, जिसके द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर लेने पर इसके सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के तीनों अपरमपन का उल्लंघन करके परमपने को प्राप्त हो लेते हैं। इस तरह से आत्मा के इन तीनों भावों में परस्पर पोष्यपोषकपना है। आत्मा वृक्ष की तरह से है तो सम्यग्दर्शन उसकी जड़ है, सम्यग्ज्ञान उसका स्कन्ध है और सम्यक्चारित्र उसके पत्ते फल वगैरह की भांति हैं यद्यपि जड होने पर तना होता है और तने में फूल पती वगैरह आती है परन्तु फिर भी उसका तना जितना मोटा ताजा होता जाता है, उतनी ही उसकी जड़ भी गहरी होती रहती है एवं उस पर जितने भी अधिक फूल पत्ती आते हैं उतनी ही उस वृक्ष की अधिक शोभा होती है। यदि कहीं जड़ में कीड़ा लग जावे तो पेड़ और पत्ते कहां, मगर पेड़ में भी कोई खराबी आ जावे तो फिर फूल पत्ती भी नहीं हो पावे और जड़ भी फैलने से रह जावे तथा फूल-पत्ते अगर नहीं तो कोरे तने वाले वृक्ष को पूछता कौन है, वहां सफलता कहां, या तो उसमें पत्ते-फूल आयेगें ही, अन्यथा तो वह कुछ देर में सूखकर खंखर बन जायेगा। वैसे ही सम्यग्दर्शन के बिना तो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं ही होता, परन्तु सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विकास के बिना भी सम्यग्दर्शन फलीभूत नहीं होता । अस्तु! सम्यग्दर्शनादि में इस प्रकार सम्बन्ध होने से चारित्रमोहनीय का असर भी सम्यग्दर्शन पर रहता है, ऐसा न मानकर अगर जो -

मिथ्यात्वतश्चेत् पर एव रागस्तदा विधीनां नवधा विभागः। सम्यक्त्वमाद्यक्षतितो विभाति गुणोऽन्यनाशात् किमु नामजातिः ॥८५॥

अन्वयार्थः- (चेत् मिथ्यात्वतः पर एव रागः) यदि मिथ्यात्व से राग (चारित्रमोह कर्म) अन्य ही (सर्वथा अन्य) है (तदा) तो (विधीनां नवधा विभागः) कर्मों के नौ भेद प्राप्त होते हैं। (किञ्च) इसके अतिरिक्त (सम्यक्त्व गुणः आद्यक्षतितः विभाति) यदि सम्यक्त्व गुण आद्य (यानी दर्शनमोह कर्म) की क्षति-क्षय से शोभित होता है

तो बताओ (अन्यनाशात्) अन्य (चारित्रमोह) के नाश से (किमु) क्या गुण है (नाम) यथार्थ में [जातिः (=उत्पत्तिः)] उत्पन्न होता है॥८५॥

विशेषार्थः-श्रद्धान को और आचरण को बिलकुल भिन्न मान कर श्रद्धान का घातक दर्शनमोह को और चारित्र का घातक चारित्रमोह को मानते हुए सर्वथा दर्शनमोह से चारित्रमोह को भिन्न कहा जावे तो फिर तो कर्मों के आठ भेद न होकर नौ भेद हैं, ऐसा कहना चाहिये और जब फिर सिद्ध अवस्था में जो सम्यक्त्वगुण प्रगट हुआ वह तो दर्शनमोह के नाश होने से हुआ, चारित्रमोहनीय के नाश से कौनसा गुण प्रगट हुआ सो भी तो देखो। किन्तु दोनों ही प्रकार के मोह का नाश होने से सम्यक्त्वगुण हुआ अतः दोनों कथंचित् एक है और जब एक हैं तो चारित्रमोह के सद्भाव में सम्यक्त्व में अवश्य ही कुछ कमी होती है इसलिये सम्यक्त्व के जो सराग और विराग ऐसे दो भेद किए गए हैं सो वास्तविक ही हैं, एवं ज्ञानचेतना वीतरागसम्यक्त्वी के ही होती है, सरागसम्यक्त्वी के नहीं, ऐसा कहना उपयुक्त ही है।

शंका- चतुर्थ गुणस्थान में जब दर्शनमोह का उपशमादि होकर सम्यग्दर्शन हो जाता है तभी उसका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान से पलट कर वह भी सम्यग्ज्ञान बन जाता है, भले ही वह एक चीज छोड़कर दूसरी को जान रहा हो, आत्मोपयोगी न होकर स्त्रीसम्भोगादि में लग रहा हो, परन्तु उसके सम्यग्ज्ञान में कोई बट्टा नहीं होता, वह सदा रहता है, अतः हर समय ज्ञानचेतना होती है। कर्म और कर्मफलरूप अज्ञानचेतना तो मिथ्यादृष्टि बहिरात्मजीव के ही मिथ्यात्व की वजह से हुआ करती है। सम्यग्दृष्टि के तो जैसे सम्यग्दर्शन है वैसे ही उसके साथ में अखण्डरूप ज्ञानचेतना भी होती है जैसा कि पंडित राजमलजी काष्ठासंघी ने अपनी 'पञ्चाध्यायी' में लिखा है -

किञ्च सर्वत्र सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना ।
अविच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥५२॥

हाँ, जबकि कोई चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रतसम्यग्दृष्टि जीवात्मा स्त्री-प्रसंग कर रहा होता है या युद्ध में किसी को मार रहा होता है तो उस समय भी उसकी प्रवृत्ति में ऊपर से ही कर्मफलचेतना या कर्मचेतनारूप अज्ञानचेतना होती है, अंतरंग में तो

उसके ज्ञानचेतना ही बनी रहती है जैसा कि राजमलजी कृत 'पञ्चाध्यायी' में ही लिखा हुआ है -

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित् कर्मचेतना।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना॥२/२७५॥

मानलो कि एक आदमी जो कि ज्योतिष, वैद्यक, संगीत इत्यादि अनेक तरह के शास्त्र पढ़ा हुआ है और वह काम वैद्यक का कर रहा है तो उसका ज्योतिष वगैरह का ज्ञान कहीं चला जाता है क्या? नहीं, अपितु वह मौजूद रहता है, परन्तु उसके उपयोग में वैद्यकज्ञान उस समय आता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी खाना-पीना इत्यादि लौकिक काम कर रहा होता है तो उसके उपयेग में तो कर्मचेतना या कर्मफलचेतना होती है फिर भी लब्धिरूप से ज्ञानचेतना बनी रहती है, ऐसा स्पष्ट मतलब समझ में आता है।

उत्तर- भैया जी! सुनो, पण्डितजी की तो पण्डितजी जाने, मगर हमारे पूज्य जैनाचार्यों को तो ऐसा कहना नहीं है क्योंकि-''चेत्यते अनुभूयते उपयुज्यते इति चेतना'' इस प्रकार चेतना नाम ही जब उपयोग का है तो फिर लब्धिरूप चेतना चीज ही क्या रही, कुछ नहीं। अपितु इस जीव का उपयोग इष्टानिष्ट विकल्प से सर्वथा रहित एवं पूर्ण वीतरागरूप होता है, उस समय उसके ज्ञानचेतना होती है जिससे उसके बन्ध नहीं होता। किन्तु उससे नीचे सराग अवस्था में भले ही वह तत्त्वार्थ के विपरीत श्रद्धान वाला बहिरात्मा हो, चाहे सत्यश्रद्धानयुक्त अनुत्कृष्ट अन्तरात्मा, दोनों के ही अज्ञानचेतना होती है जो कि यथा सम्भव ज्ञानावरण आदि कर्मों का बन्ध करने वाली होती है और जो कि अपनी शुद्ध आत्मा के सिवाय और किसी बात पर करने रूप या होने रूप में प्रस्तुत रहती है जैसा कि 'श्री आत्मख्याति' में लिखी है, देखो -

तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहंकरोमीति चेतनं कर्मचेतना।
ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना॥
सा तु समस्तापि संसारबीजस्याष्टविधकर्मणोबीजत्वात्।

इसी का स्पष्टीकरण तात्पर्यवृत्ति में है -

मदीयं कर्म मयाकृतं कर्मेत्याद्यज्ञानभावेन, ईहापूर्वकमिष्टानिष्टरूपेण निरुपराग शुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य मनोवचनकायव्यापार करणं यत् सा बन्धकारण-भूत कर्मचेतना भण्यते। स्वस्थभावरहितेनाज्ञानभावेन यथासम्भवं व्यक्ताव्यक्तस्वभावेनेहापूर्वकमिष्टानिष्ट विकल्परूपेण हर्षविषादमयं सुखदुःखानुभवनं यत् सा बन्धकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते।

मतलब यही कि शुद्धात्मानुभूतिरूप शुक्लध्यानसमाधि से च्युत हो रहे हुए जीव की मन-वचन-काय की चेष्टा का नाम तो कर्मचेतना और वीतरागपन के सिवाय जरा सा भी इष्टानिष्टविकल्प को लिये हुए हर्ष विषाद को प्राप्त होना कर्मफलचेतना कहलाती है। यानी वीतरागपन का नाम ज्ञानचेतना ओर सरागपन का नाम अज्ञानचेतना, जैसा श्री कुन्दकुन्द आचार्य के -पञ्चास्तिकाय' नामक ग्रन्थ की निम्न गाथा में लिखा हुआ है -

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसाहि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कन्ता णाणं विंदंति ते जीवा॥

अर्थात् स्थावर एकेन्द्रिय जीवों में तो सभी के कर्मफलचेतना हुआ करती है परन्तु जो जीव प्राणिपने को यानी जन्ममरण के कारणभूत रागद्वेष को पार करके वीतरागता को प्राप्त कर लेत हैं वे जीव ज्ञानचेतना वाले होते हैं। इस पर फिर शंका होती है -

अज्ञाननाशं प्रवदन्ति सन्तो दृङ् मोहनाशक्षण एव जन्तोः।
अज्ञाननाम्नी ननु चेतनेति कुतोऽप्रमत्तादिगुणेऽभ्युदेति॥८६॥

अन्वयार्थः- (जन्तोः) प्राणी के (दृङ् मोहनाशक्षणे एव) दर्शनमोह के नाश के क्षण में ही, (सन्तः अज्ञाननाशं प्रवदन्ति) साधुजन, अज्ञान का भी नाश हो जाता है, ऐसा कहते हैं। (ननु) तो हमारा पूछना है कि (अज्ञाननाम्नी) अज्ञाननामवाली (चेतना) चेतना [अप्रमत्तादिगुणे कुतः (=कस्मात् कारणात्) अभ्युदेति (=प्रकटीभवति) ?] अप्रमत्तादि गुणस्थानों में कैसे रहती है? (इति) ऐसा प्रश्न है॥८६॥

विशेषार्थ- जब दर्शनमोह का अभाव होता है तो उसी समय इस प्राणी के अज्ञान का यानी मिथ्याज्ञान का भी अभाव नियम से हो जाया करता है इस विषय में सब सज्जनों का जहां एक मत है तो फिर उसका तो अभाव चतुर्थ गुणस्थान में ही हो लेता है, फिर अप्रमत्तादि गुणस्थानों में अज्ञानचेतना बताई जाती है, वह कैसी ? इस बात का जवाब -

तदुत्तरं तावदलीकबोधः प्रणाशमायाति न किन्त्वबोधः।
अलीकबोधो हि कुदृष्टिधामा रागादिमानेवमबोधनामा ॥८७॥

अन्वयार्थः- (तदुत्तरम् एवम्) उसका उत्तर इस तरह है (तावत् अलीकबोधः प्रणाशम् आयाति) वस्तुतः मिथ्याबोध तो नाश को प्राप्त होता है (किन्तु अबोधः [प्रणाशम्] न (आयाति) किन्तु अबोध प्रणाश को प्राप्त नहीं होता। (हि) क्योंकि (अलोकबोधः कुदृष्टिधामा) मिथ्याज्ञान तो कुदृष्टि का धाम है (अबोधनामा रागादिमान्) और जो अबोध है-अज्ञान है, वह तो रागभावमय है। [अतः चेतना की अपेक्षा से वह अबोध-अज्ञान चेतना का रूप होता है।]॥८७॥

विशेषार्थ- चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्याज्ञान का अभाव तो हो जाता है किन्तु अज्ञान का अभाव नहीं होता। मिथ्यादृष्टि की अवस्था में समझ रहा था कि जो शरीर हे सो ही मैं हूं। इस प्रकार मोह की वजह से शरीर और आत्मा को एकमेक जानता था सो व्यर्थविचार तो सम्यग्दृष्टि होते ही दूर हो जाता है, परन्तु मार्गगामी पथिक भी दूसरे पथिक को अपना साथी मानकर उसके साथ में प्रेम दिखलाया करता है। वैसे ही वह फिर भी अपने शरीर को जन्म का साथी मान कर किञ्चित् राग किए हुए रहता है। यह जो अज्ञान है वह सर्वथा दूर नहीं हो पाता तब तक ज्ञानचेतना कैसे हो सकती है? देखो, हमारे आगम ग्रन्थों में सम्यग्ज्ञान के वर्णन में बतलाया गया है कि जो ज्ञान, संशय विपर्यय और अनध्यवसाय के रहित हो वही सम्यग्ज्ञान होता है। अब अगर एक सम्यग्दृष्टि जीव अन्धकार इत्यादि के कारण से जेवड़ी को सर्प जान रहा है तो उस समय जानने की अपेक्षा से तो विपर्यय होने से उसका वह ज्ञान मिथ्याज्ञान हुआ फिर भी वह सम्यग्दर्शन के साथ में है इसलिये सम्यग्ज्ञान कहा

जाता है। बस, वैसे ही चतुर्थ गुणस्थान वाले का ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है मगर वह रागभाव को लिये हुए होता है, अतः चेतना की अपेक्षा से वह अज्ञानचेतनारूप होता है।

सारांश यह है कि चतुर्थगुणस्थान में श्रद्धान ठीक होते ही ज्ञान का मिथ्यापना तो हट जाता है, फिर भी उसमें स्थिरपना नहीं आ पाता जैसे कि कुव्रत न होकर भी वहां पर अव्रतदशा होती है। ऐसा नीचे के छन्द में बताते हैं -

कुवृत्तभावोऽपसरेदवृत्त-भावो न तूर्यस्थल एवं हृत्तः।
अज्ञानभावः प्रतिवर्तमानः कुज्ञाननाशेऽपि भवेत्तथा नः॥८८॥

अन्वयार्थः- [यथा] (कुवृत्तभावः) जैसे मिथ्या आचरण का भव (तूर्यस्थले एव) चतुर्थगुणस्थान में ही (हृतः) हृदय से (अपसरेत्) निकल जाता है-दूर हो जाता है (परन्तु) (अवृत्तभावः न अपसरेत्) परन्तु अचारित्र भाव (असंयम भाव) दूर नहीं होता। (तथा) उसी तरह चतुर्थगुणस्थान में (कुज्ञाननाशेऽपि) मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाने पर भी (नः अस्माकं) हमारा (अज्ञानभावः) केवलज्ञान के अभाव में होने वाला अज्ञानभाव (प्रतिवर्तमानः) विद्यमान (भवेत्) रहता है॥८८॥

विशेषार्थः- हमारे आचार्यों ने बतलाया है कि अनादि काल से इस संसारी आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण ये तीनों मिथ्या हो रहे है, बिगड़े हुए हैं सो चतुर्थगुणस्थान में आकर जब इसका श्रद्धान ठीक होता है, मिथ्या पन से सहीपन पर आता है तो इसके ज्ञान ओर चारित्र में भी मिथ्यापना नहीं रहता। दुःश्रद्धा के साथ-साथ कुत्सित विचार और कुचेष्टा भी विदा हो जाते हैं। इस तरह उसके हृदय पर से यद्यपि दुर्वृत्तपन तो दूर हो जाता है, मगर अवृत्तपन तो फिर भी बना ही रहता है। वह दूसरे की बहु बेटी पर बुरी निगाह नहीं डालता, चोरी चुगलखोरी नहीं करता किन्तु अपनी स्त्री के साथ यथेष्ट रतिचेष्टा करता है, अपने घरू खाने को इच्छानुसार खाकर प्रसन्न रहता है; न्यायोचित विषय भोगों को भोगने की बाबत उसके चित्त पर कोई नियन्त्रण नहीं होता है और इसीलिये हमारे आचार्यों ने उसे स्पष्टरूप से अव्रत

सम्यग्दृष्टि बतलाया है। बस, तो जिस प्रकार उसका दुर्वृत्त नष्ट होकर अव्रतपन बना रहता है, वैसे ही कुज्ञान-खोटा विचार दूर होकर भी अज्ञान बना रहता है, विचार की चपलता दूर नहीं हो पाती अत: ज्ञानचेतना नहीं होती क्योंकि विचार की स्थिरता का एकाग्र ज्ञानोपयोग का, आत्मधीन ज्ञानभाव का नाम ही ज्ञानचेतना है।

शङ्का- खैर, चतुर्थादिगुणस्थान में तो न सही किन्तु सप्तमादिगुणस्थान में जबकि अप्रमत्त अवस्था होती है, वहां तो ज्ञानचेतना कहनी चाहिये कि नहीं? क्योंकि वहां तो निर्विकल्प अपनी आत्मा के ध्यान के सिवाय और कोई बात सम्भव ही नहीं है जहां पर कि इस जीव की वृत्ति, विकथाओं से यानी पर की बातों से इन्द्रियाधीनता से क्रोधादि कषायों पर से और दूसरे किसी के साथ अपनापन दिखाने रूप प्रणय से भी दूर हट कर पूर्ण जागृतरूप हुआ करती है। श्री सिद्धपरमेष्ठीजी का स्मरण करना भी सेव्यसेवकभाव के कारण राजकथा में परिगणित हो रहता है, फिर वहां आत्मस्मृति के सिवाय बाकी ही क्या रह जाता है?

इस शंका का समाधान नीचे किया जा रहा है -

ज्ञानं भवेदात्मनि चामत्तजनस्य बाह्यातिशयान्महत्तः।
दूरस्य सम्पश्य पुनः सुदृक्तत्तुषातिगं तण्डुलमत्ररक्तम्॥८९॥

अन्वयार्थ:- (सम्पश्य पुनः सुदृक्!) हे समझदार भाई! पुन: देखो (सुनो) (महत्तः बाह्यातिशयात्) विशाल बाह्यातिशय से (दूरस्य अमत्तजनस्य) दूर रहने वाले अप्रमत्त संयत मुनिजन के (ज्ञानं आत्मनि भवेत्) विचार स्व में रहते हैं। [(यथा) तुषातिगं तण्डुलम् रक्तम्] जैसे तुष रहित होकर भी चावल लालिमायुक्त रहता है [तत् अत्र (तद्वदेवात्रापि योज्यम्)] वही बात यहां भी जाननी चाहिये॥८९॥

विशेषार्थ- हे समझदार भाई सुनो! तुम्हारा कहना ठीक है, जहां सच्ची अप्रमत्तावस्था होती है वहां पराये विचार से तो काई सरोकार नहीं रह जाता है, पर-पदार्थों के प्रति होने वाली इष्टानिष्ट कल्पना ही लुप्तप्राय हो लेती है, मगर उसके विचार में उसकी खुद की आत्मा ही रागद्वेषयुक्त होती है, जैसे कि धान्य को उखल कर उसमें

से चावल निकाले गये, उनके ऊपर होने वाले तुषों को अलहदा कर दिया गया, यों उसे खूटकर फटकने से सफेद-सफेद चावल निकल आते हैं, अब अगर उनमें से कोई चावल जिसके ऊपर का छिलका दूर होकर भी उस पर रहने वाली उसकी लाली दूर नहीं हट पाई तो उसको हम लाल चावल समझते या कहा करते हैं कि और सब चावल तो सफेद हैं मगर यह चावल लाल हैं। बस, इसी प्रकार उसके अनुभव में उसकी खुद की आत्मा रागरंजित आया करती है, यानी उसकी खुद की आत्मा क प्रति उसका उपादेयभाव रहता है जिससे वह अपने भीतर रहनेवाले रागांश को दूर हटाने का प्रयत्न जारी रखता है एवं कर्मचेतनारूप होता है। यदि होते हुएराग को भी न जानकर या न मानकर अपने आपको शुद्ध ही जानने जगे तो फिर राग को दबाने या न होने देने की चेष्टा ही क्योंकरे और तब फिर रागी का रागी ही बना रहे। किन्तु -

'राग नहीं निजभाव सही, यह सिद्धसमान सदा पद मेरो।'

इस वाक्य के अनुसार स्वभावापेक्षया अपने आपकों सिद्ध समान मानते हुए भी वर्तमान मे अपने रूप को रागरंजित अनुभव में लाता है। इसीलिये वह -

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डारि अन्तर भेदिया।
वर्णादि अरु रागादि तें निजभाव कौं न्यारा किया॥
निज माँहिनिज के हेतु निज कर आपको आपै गह्यो।
गुण-गुणी-ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय मंझार कछु भेद न रह्यो॥८॥

-छहढाला: छठी ढाल

इस छन्द के अनुसार अपनी बुद्धि को सुचारू और दृढ़ बनाते हुए अपूर्वकरणादिरूप प्रयत्न द्वारा रागांश को दूर हटा कर अपने उपयोग को निर्मल बनाने में लगा रहता है। सो ही बताते हैं -

सुसमाधिकुठारेण छिद्यमानस्तरुर्यथा।
छिन्न एव नहीत्येष रागभागोऽष्टमादिषु ॥९०॥

अन्वयार्थः-(यथा) जैसे (सुसमाधिकुठारेण छिद्यमानः तरूः, नाहि छिन्नः एव।) समीचीन समाधिरूप कुठार से काटा जाता हुआ वृक्ष (रागवृक्ष) (उसी समय तो) कट नहीं जाता (क्योंकि छिद्यमान और छिन्न में अन्तर हैं।) (इति) इसी तरह (अष्टमादिषु) आठवें आदि गुणस्थानों में (एषः रागभावः) यह रागांश है। (यानी छिद्यमान तो है और आगे छिन्न होगा) ॥९०॥

विशेषार्थ- जब कुल्हाड़े के द्वारा किसी गाछ को काटा जाता है तो उसी समय वह कट तो नहीं जाया करता, मगर धीरे-धीरे कट रहा हुआ होता है, वैसे ही एक महर्षि की आत्मा में जो प्रशस्त राग होता है वह शुक्लध्यानरूप समाधि द्वारा अष्टमादिगुणस्थानों में क्रमशः क्षीण होता रहता है।

समाधिनिरतत्त्वेन तत्त्वेनर्मधरः पुमान्।
वीतराग इवाभाति वालिशानां विचारतः॥९१॥

अन्वयार्थः- (समाधिनिरतत्त्वेन) समाधि में तत्पर-लीन होने के कारण (पुमान्) वह पुरूष (तत्त्वे नर्मधरः) [= मनोरंजनधरः उत्साहधरो वा] आत्मतत्त्व [को प्राप्त करने के बारे] में उत्साह का धारक होता है। उस समय [बालिशानां विचारतः (=विचारात्)] अज्ञानी व्यक्तियों के विचार में तो (वीतरागइति भाति) वीतराग सरीखा प्रतीत होता है॥९१॥

विशेषार्थ- हाँ, यह बात जरूर है कि वह उत्तम संहनन का धारक महापुरूष उस समय समाधि में तत्पर हो रहने की वजह से शुद्धात्मपने को प्राप्त करने के बारे में उत्साह का धारक होता है, अपने उत्तरकाल में नियम से शुद्ध वीतराग हो रहने वाला होता है, अतः स्थूलविचार वाले हम-तुम सरीखों के विचार में वह ठीक वीतराग सरीखा ही प्रतीत होता है किन्तु उसके रागांश को जानने वाले तो दिव्यज्ञानी महर्षि लोग ही होते है; जो हमें बताते हैं कि-

पुलाको वकुशः किंवा षष्ठे सप्तमकेऽपि यः।
कुशीलतामनुप्राप्तः स पुमानष्टमादिषु॥९२॥

अन्वयार्थः- [पुलाकः (वा) बकुशः] पुलाक और बकुश मुनि [षष्ठे किंवा (= अथवा) सप्तमकके] छठे या सातवें गुणस्थान में होते हैं। (अपि यः) और जो (पुमान्) पुरुष (कुशीलताम् अनुप्राप्तः सः अष्टमादिषु) कुशीलता को प्राप्त है वह आठवें आदि गुणस्थान में होता है॥९२॥

विशेषार्थ- मुमुक्षु साधु पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक के भेद से पांच प्रकार का होता है जिसके गुण मूलगुण और उत्तरगुण के भेद से दो तरह के होते हैं, मूलगुण खास गुणों का नाम हे जिनके बिना वह हो हो न सके और उत्तरगुण उन्हें कहा जाता है जिनके विकसित होने से वह उन्नति को प्राप्त होकर अपने ध्येय को प्राप्त कर पा सके। पंच महाव्रत पांच समितियां, पंचेन्द्रिय वशीकरण, षडावश्यक और सात शेष गुण यों अट्ठाईस प्रकार के तो मूलगुण होते हैं। बारह तप और बाईस परीषहों का जीतना यों चौंतीस उत्तर गुण है जिनके भेद, प्रभेद करने से चौरासी लाख हो जाते हैं। इनमें से मूलगुणों को धारण करके मनुष्य साधु बनता है तो आनुषंगिक रूप से उत्तरगुण भी आ ही जाया करते हैं, उनके भी बिल्कुल ही न होने पर तो साधु रह ही नहीं सकता, परन्तु उनके पालन करने का वह अधिकारी बनकर नहीं रहता, जैसे कि अधिक शीत पड़ने पर उसे न सह सकने के कारण काँपने भी लगता है। हाँ, कितना ही शीत क्यों न सतावे फिर भी वह कपड़ा कभी नहीं पहनता क्योंकि कपड़ा पहन लेने में वह अपनेपन में बट्टा समझता है। कपड़े न पहनना, नंगा रहना यह उसका प्रधान गुण है अतः कपड़े पहनने का तो वह विचार भी नहीं करता। अगर कोई भोला जीव उसे काँपते हुए देखकर दयालुपने से उस पर कपड़ा ड़ाल भी देता है तो उसे वह उपसर्ग समझता है। यह कभी नहीं मानता कि इसने अच्छा किया कि मुझे कपड़ा ओढ़ा दिया। फिर भी जिसके किसी मूलगुण में कोई आंशिक दोष आ जाया करता हो ऐसे साधु का नाम पुलाक साधु होता है। और जो उत्तरगुणों के भी पालन करने का संकल्प लिये हुए हो, उन्हें निर्वाह करना अपना कर्त्तव्य समझता हो फिर भी उनमें अच्छी तरह से सफल नहीं हो पा रहा हो वह वकुशमुनि होता है। ये दोनों मुनि छठे और सातवें गुणस्थान में होते हैं। इसके ऊपर अष्टमादि-श्रेणिमध्य गुणस्थानों में कुशील मुनि होता हे' यद्यपि यह प्रमादरहित होते हुए कर्त्तव्यपरायण हो

रहा होता है, फिर भी इसके परिणामों में कषायों की वजह से गंदलापन बना हुआ होता है। शरत्कालीन जल की भांति होते हैं। मतलब यह है कि यह जीव कृतकार्य नहीं, किन्तु अभी तक कर्त्तव्यसन्निविष्ट ही है जैसा कि नीचे दिखलाते हैं-

शाखिनिप्रवहन्नन्ते कुठारः केवलं करे।
योग आत्मनि सम्पन्नो दशमाद्गुणतः परं॥९३॥

अन्वयार्थः- [यथा] (शाखिनि प्रवहन कुठारः) जैसे पेड़ पर बहने वाला कुठार [अन्ते केवलं करे (तिष्ठति)] अन्त में केवल हाथ में निश्चल हो रहता है। (तथैव) उसीतरह [दशमात् गुणतः (=गुणस्थानात्) परं (पश्चात्) योग आत्मनि सम्पन्नः] दसवें गुणस्थान के बाद (ऊपर पहुंचने पर) आत्मा में योग सम्पन्न हुआ कहलाता है॥९३॥

विशेषार्थ- इस प्रकार करते हुए होकर जब दसवें गुणस्थान से ऊपर पहुंच जाता है तभी आत्मा का वह योग जो कषायों को नष्ट करने के लिये किया जाता है सम्पन्न हुआ कहलाता है; जैसे किसी पेड़ को काटने के लिये उस पर बहने वाला कुठार उसे काटते-काटते अन्त में उसे बिलकुल काट चुकने पर तक्षक के हाथ में निश्चल हो जाता है और उस समय उससे जो आश्वासन मिलता है, बस वही दशा इस आत्मा की भी दसवें गुणस्थान के ऊपर हो पाती हे यानी इसको अपने आप में विश्राम प्राप्त होता है।

निर्ग्रन्थपदवाच्यत्वमपि स्पष्टतया मुनेः।
उपयोगस्तथाशुद्धः स तत्रैवास्तु वस्तुतः॥९४॥

अन्वयार्थः- (वस्तुतः तु मुनेः) वास्तव में तो मुनि के (स्पष्टतया निर्ग्रंथ पदवाच्यत्वम्) स्पष्टता से निर्ग्रन्थ पद का वाच्यपना (तथा) और (सः शुद्धः उपयोगः) प्रसिद्ध शुद्ध-उपयोग (यानी पूर्व में चर्चित शुद्धोपयोग) अपि तत्र एव अस्तु) भी वहां ही होता है॥९४॥

विशेषार्थ- भावनिक्षेप की अपेक्षा निर्ग्रन्थ कहलाने की पात्रता मुनिराज को

वहीं पर जाकर प्राप्त हो पाती है क्योंकि ग्रन्थ नाम परिग्रह का है और अन्तरंग परिग्रह में जिस प्रकार मिथ्यात्व को बताया गया है उसी प्रकार से चारित्र मोह की सभी कषायों को भी परिग्रह माना है एवं निर्ग्रन्थपने के लिये उन सभी कषायों के अभाव की जरूरत हो जाती है जो वहीं जाकर पूरी होती है, अत: शुद्धोपयोग भी वास्तविक रूप में वहीं जाकर होता है।

स्वरूपाचरणं भेद-विज्ञानं ज्ञानचेतना।
शुद्धोपयोगनामानि कथितानि जिनागमे ॥९५॥

अन्वयार्थः- [स्वरूपाचरणं, भेदविज्ञानं (च) ज्ञानचेतना (इत्येतानि) शुद्धोपयोगनामानि जिनागमे कथितानि] स्वरूपाचरण, भेदविज्ञान (और) ज्ञानचेतना (इस प्रकार ये) शुद्धोपयोग के नाम जिनागम में कहे गये है ॥९५॥

विशेषार्थ- शुद्धोपयोग का नाम ही ज्ञान चेतना, भेद विज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्र है जिससे आत्मा पर-पदार्थों से विमुख होकर अपने आप का अनुभव करने लगती है और इसका नाम शुक्लध्यान भी है जैसा कि पं. दौलतरामजी ने अपनी छहढाला में लिखा है, देखो-

यों है सकल संयम चरित सुनिये स्वरूपाचरण अब।
जिस होत प्रगटे अपनी निधि मिटे परकी प्रवृत्ति सब ॥७॥ छठी ढाल

यों कहकर उन्होंने इसके आगे उसी शुक्लध्यान का वर्णन किया है जिसके कि सुललितसमागम से घातिया कर्मों का आभाव होकर यह आत्मा परमात्मा हो जाता है और यह पं. दौलतरामजी का लिखना है भी ठीक क्योंकि - ''स्वरूपे आसमन्ताच्चरणं'' यानी 'अपने आप में पूरी तौर से लीन हो रहना', ऐसा ही स्वरूपाचरण का मतलब होता है जैसा कि श्री प्रवचनसारजी की गाथा संख्या ७ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्यजी ने भी लिखा है कि ''स्वरूप चरणं चारित्र स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थ:'' इसी को भेद विज्ञान भी कहते हैं जैसा कि श्री अमृतचन्द्र स्वामीजी ही इस अपने समय सारकलश में लिखते हैं-

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारुणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः,
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥१२६॥

इसमें बतलाया गया है कि ज्ञान का लक्षण जानना है और परद्रव्यानुयायीपन, राग का लक्षण है। इस प्रकार दोनों के लक्षण को ध्यान में लेकर अपने विचार के द्वारा अपनी अन्तरात्मा के पूरी तौर से भिन्न-भिन्न दो भाग करके ज्ञान को रागसे पृथक् कर लेने पर भेदज्ञान प्राप्त होता है जो कि बिलकुल निर्मूल होता है। सो यह वही बात है जिसको पण्डित दौलतरामजी ने अपनी छहढाला में-

जिन परमपैनी सुबुधिछैनी डारि अन्तर भेदिया।
वर्णादि अरूरागादितैं निजभाव को न्यारा किया॥
निजमाहिं निजके हेतु निजकरि आपको आपै गह्यो।
गुण गुणीज्ञाता ज्ञानज्ञेय मझार कुछ भेद न रह्यो ॥८॥ छठी ढाल

इन शब्दों में दोहराया है और जो साक्षात् शुक्लध्यान का रूप है जो की वीतराग सम्यग्दृष्टि अवस्था में होता है। सराग सम्यग्दृष्टि अवस्था में तो राग को और ज्ञान को भिन्न-भिन्न मानता मात्र है, भिन्न-भिन्न कर नहीं पाता है जैसा कि आचार्य श्री लिख रहे हैं। एवं ज्ञानचेतना तो निर्विकल्परूप से ज्ञान की स्थिरता का नाम है जैसा कि पहले बताया ही जा चुका है, अतः ये सब एक शुद्धोपयोग के ही या शुक्लध्यान के ही नाम हैं। भेद हैं तो सिर्फ इतना ही कि शुद्धोपयोग शब्द तो आत्मा को मुख्य करके कहा जाता है। भेदविज्ञान शब्द के कहने में सम्यग्दर्शनगुण का लक्ष्य होता है। ज्ञानगुण की मुख्यता से ज्ञानचेतना कहा जाता है और स्वरूपाचरण शब्द चारित्रगुण की प्रधानता से कहा गया है।

शंङ्का-शुक्लध्यान तो सातवें गुणस्थान से भी ऊपर आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है, किन्तु स्वरूपाचरण तो चौथे गुणस्थान वाले अव्रतसम्यग्दृष्टि के ही हो जाता

है। क्योंकि स्वरूपाचरण का घात करनेवाली तो अनन्तानुबन्धी कषाय है जिसका कि उसके अभाव होता है।

उत्तर- भैय्या जी! अनन्तानुबन्धी कषाय का काम तो अन्याय और अभक्ष्यादि में प्रवृत्ति करवाना एवं गुरू-संस्था को न मान कर मनमानी करने में मस्त रखना है जैसा कि मिथ्यात्व का काम, शरीर से भिन्न आत्मा को कोई भी चीज न मानने देने का है और इन दोनों का अभाव अव्रत सम्यग्दृष्टि के हो लेता है इसलिये वह आत्मा को शरीर से भिन्न नित्यान्वयी ज्ञानमय मान कर पुनर्जन्म, नरक, स्वर्गादि पर विश्वास करता है एवं गुरूओं का हृदय से विनय करने लगता है तथा पापकर्मों से हर समय भीत रहता है। स्वरूपाचरण तो उस आत्मानुभव का नाम है जो कि संज्वलन कषाय के भी न होने पर होता है। अनन्तानुबन्ध्यादि प्रत्याख्यानावरणपर्यंत कषायें न होने से सकल चारित्र हो जाने पर भी जब तक संज्वलन कषाय का उदय होता है तो वह इस जीव के आत्मानुभव पर जमने नहीं देता। हाँ, जब संज्वलन कषाय का भी तीव्र उदय न होकर वह मन्द होता है तो यह जीव आत्मानुभव पर लगने की चेष्टा करता है यानी अपने पौरूष से उसे भी दबा कर या नष्ट करके अपने आप में लीन हो जाता है, उसी को आत्मानुभव या आत्मानुभूति कहते हैं। यही स्वरूपाचरण चारित्र है।

शंका- तो फिर क्या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यकग्दृष्टि को आत्मानुभूति नहीं होती ? तो फिर सम्यक्तव कैसा हुआ और मिथ्यात्व क्या गया ?

उत्तर- चतुर्थ गुणस्थान वाले को आत्मानुभूति तो नहीं मगर आत्मतत्त्व का विश्वास जरूर हो लेता है जो कि मिथ्यात्व अवस्था में कभी नहीं हो पाता। जैसे मानलो कि एक आदमी के तीन लड़के हैं जिन्होंने नमक की कंकरी को उठाकर खाया और वह खारी लगी फिर जब उनंहें मिश्री के नुकरे खाने को दिए गए तो वे उन्हें भी नमक सरीखे खारे मानकर, नमक ही मानकर दूर फेंक देते हैं। पिता कहता है कि यह नमक नहीं किन्तु मिश्री है, एवं खारी नहीं लेकिन मीठी है फिर भी नहीं मानते। अब जब मक्खियां आती हैं तो वे मिश्री पर भिन्नाने लगती हैं और नमक

पर नहीं, तब पिता फिर समझाता है कि देखो हलवाई की दुकान में मिठाई पर मक्खियां भिन्नाया करती हैं बनिये की नमक की ढेरी पर नहीं, वैसे ही ये सब कंकरियां तो नमक की हैं, खारी हैं, जिन पर मक्खियां नहीं बैठतीं मगर ये सब नुकरे मिश्री के हैं जिन पर मक्खियां आ रही हैं। तो एक लड़के ने तो फिर भी नहीं माना और बोला कि नहीं-ये समस्त कंकरियां एक सी ही तो है, सभी खारी हैं, इनमें कोई मिश्री और कोई नमक ऐसा भेद नहीं है बाकी के दो लड़के कुछ विचारशील थे, उनके मन में बात जम गई कि हाँ, ये जिनमें जरा सा पीलापन है, जिन पर मक्खियां बैठती हैं, सो सब कंकरियां इन सफेद कंकरियों से जरूर न्यारी हैं और मीठी हैं, ये सब मिश्री की हैं। पिताजी का कहना बिल्कुल ठीक है। चलो, मुँह धोकर आयें तो इनको खायेंगे; इतने में ही उन दोनों में एक लड़का झट मुँह धोकर आकर उन मिश्री की कंकरियों में से एक को उठाकर चखता है तो कहता है कि अहा, सचमुच मिश्री है, मीठी है। बस, तो इसी प्रकार से शुक्लध्यानी का अनुभव आत्मा के बारे में होता है, परन्तु इससे पूर्ववर्ती अव्रतसम्यग्दृष्टि आदि को तो आत्मविश्वास मात्र होता है, जैसा कि मिश्री को नहीं चखकर भी पिता की बात पर जमे रहने का विश्वास।

शंका- गृहस्थ होते हुए भी जो आदमी एकाग्र निश्चल होकर ऐसा विचार कर रहा हो कि मेरी आत्मा अथवा मैं शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्द हूं; मेरे अन्दर राग, रोष वगैरह बिलकुल भी नहीं है इत्यादि; उस समय तो उसके आत्मानुभव है कि नहीं ?

उत्तर- वह आदमी तो उस भिखारी सरीखा निरा पागल है जो कि जन्म से दरिद्र होते हुए भी अपने आपको चक्रवर्ती मान रहा हो इससे तो वह मिथ्या दृष्टि भी कुछ अच्छा है जो कि अपने आपको दुःखी अनुभव करता है; अतः सोचता है यह दुःख मुझे क्यों हो रहा है और यह कैसे नष्ट हो सकता है ?

हाँ, जो तत्त्वश्रद्धानी जब कभी गृहस्थोचित और बातों की तरफ से अपने मन को मोड़कर एकाग्रभाव से ऐसा विचार कर रहा हो कि मेरी आत्मा अथवा मैं भी तो स्वभाव की अपेक्षा से सिद्धों के समान ही विकार रहित हूं विकार जो है

वह तो वर्त्तमान अवस्था मात्र है जो कि कर्मों के संयोग को लेकर बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्ट कल्पना करने से हो रहा है, इत्यादि तो उसका यह विचार, सद्विचार है, धर्म भावनारूप है और मन्द लेश्या के होने से होनेवाला है। सो वह सद्भावनारूप विचार उस स्वरूपाचरण के लिये कारणरूप माना गया है, क्योंकि इस विचार को हृदय में स्थान देने वाला जीव थोड़ी बहुत देर के बाद बाह्य बातों से दूर हटकर केवल अपनी आत्मा को ही याद करने लगता है एवं उसमें तन्मय होकर उस अनुभव के द्वारा इष्टानिष्ट विकल्प से रहित होता हुआ सिर्फ ज्ञानदर्शनस्वभावमय बन सकता है जैसा कि समयसारजी की निम्नलिखित गाथा में लिखा है-

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तह्मि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि॥

अर्थात् "खलु यानी निश्चय नय से अगर स्वभावदृष्टि से देखा जाये तो मैं सिर्फ परिपूर्णज्ञानदर्शन वाला हूं, शुद्ध हूं, मुझ में किसी भी दूसरी चीज का सम्मिश्रण बिलकुल भी नहीं है और जब मैं ऐसा हूं तो फिर व्यर्थ ही इन सब दूसरी चीजों से क्यों ममत्व करूँ ? अपने आप में तन्मय होकर स्थितहो रहूं ताकि ये सब रागद्वेषादि आस्रवभाव नष्ट हो जावें और मैं सच्चिदानंद बन रहूं" मतलब यह कि इस वीतराग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय परिणमन का नाम ही स्वरूपाचरण चारित्र है। सम्यक्त्व भी इसी अवस्था में निश्चय सम्यक्त्व होता है जैसा श्री रायचन्द कृत 'आत्मसिद्धि' में भी लिखा हुआ है, देखो-

वर्ते निज स्वभाव का अनुभव लक्ष्य प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभाव में परमार्थे समकीत॥

किळच्च, सम्पन्नस्वरूपाचरण का नाम ही यथाख्यात चारित्र भी है। सो यह यथाख्यात चारित्र दो प्रकार का होता है, यही नीचे बताते हैं-

विच्छिन्न आत्मभुविरागनगो विनेतुरन्तर्मुहूर्तत इयान् पुनरभ्युदेतु।
सम्बुद्धये तु परमात्मन एव तावदुन्मूल्यरागतरूमात्मकृतप्रभावः॥९६॥

अन्वयार्थः- (विनेतुः) मोक्षमार्ग के नेता की (आत्मभुवि) आत्मारूपी भूमि पर (रागनगो विच्छिन्नः) राग वृक्ष छिपा हुआ (उपशान्त) हो गया है। (अन्तर्मुहूर्ततः) अन्तर्मुहूर्त के बाद (इयान्) (इतना अर्थात् यही राग) (पुनः अभ्युदेतु) पुनः उदित हो जाने वाला है। (रागतरूम् उन्मूल्य) (दूसरा प्रकार) रागवृक्ष का पूर्ण नाश करके ही उसके बाद (आत्मकृतप्रभावः) स्वयं के द्वारा कृत प्रकृष्ट भाव, यानी स्वाभाविक स्थायी वीतराग-भाव (तावत्) (वस्तुतः) (परमात्मनः सम्बुद्धये एव) परमात्म पद की प्राप्ति की पूर्ण प्रतीत के लिये ही है ॥६९॥

विशेषार्थ- जैसे किसी पेड़ को नष्ट करना होता है तो पहले तो उसे कुल्हाड़े से काट कर गिरा देते हैं और फिर जमीन में से उसकी जड़ों को भी खोद निकाल फेंक दें तो ठीक होता है। यदि सिर्फ काटने का ही कार्य किया जाय, जड़ें न निकाली जावें तो फिर वह प्रस्फुटित होता है; वैसे ही आत्मा में होने वाले रागभाव को दूर करने के लिये भी दो तरह की क्रिया होती है। कषायांश को दबाकर आत्मपरिणामों को निर्मल बना लिया जाता है, जैसे गंदले पानी में फिटकरी इत्यादि डाल करके उसके कीचड़ को नीचे बैठा दिया तो पानी साफ हो जाता है। इस क्रिया को उपशमश्रेणी कहते हैं और इससे होने वाली निर्मलता को उपशान्तमोहदशा कहते हैं; यह एक अन्तर्मुहूर्त मात्र रहती है। बाद में फिर मोह का उदय हो आता है, अतः इसको प्रतिपातियथाख्यातचारित्र कहा जाता है और जहां पर कषायांश को बिलकुल दूर कर दिया जाया करता है उसे क्षपकश्रेणी एवं उससे होने वाली आत्मशुद्धि का क्षीणमोह कहते हैं, इसमें मोह को सदा के लिये विदा मिल जातीहै अतः इसको अप्रतिपातियथाख्यातचारित्र कहते हैं यह भव्यत्वशक्ति के पूर्णपरिपाक का फल है इसके हो जाने नर फिर पुनर्भवधारण नहीं करना पड़ता है, किन्तु इससे आगे क्या होता है, सो बताते हैं-

पृथक्त्वाय वितर्कस्तु यः श्रेणावात्मरागयोः।
क्षीणमोहपदे तस्मैएकत्वायाधुनात्मः ॥१७॥
अनेन पुनरेतस्य घातिकर्मप्रणाशतः।
आत्मनोऽस्तु च परमोपयोगो विश्ववस्तुवित् ॥१८॥

अन्वयार्थः- (यः वितर्कः, श्रेणौ आत्मरागयोः पृथक्त्वाय) जो वितर्क है वह श्रेणि में आत्मा और राग के पृथक्करणार्थ है। (तु) और (अधुना आत्मनः क्षीणमोहपदे) अब आत्मा के क्षीणमोह गुणस्थान में (तस्मै एकत्वाय) उस एकत्व के लिये (वितर्कः) वह पूर्वप्रसंगोपात्त वितर्क है यानी क्षीणकषाय में वितर्क का उपयोग एक योग व एक द्रव्यालम्बन के लिये ही है अथवा क्षीणकषाय का वितर्क (श्रुत) मयध्यान घातक घातिया कर्मों से रहित मात्र केवल एक आत्मा की उपलब्धि के लिये है (पुनः अनेन) पुनः इससे यानी इसके द्धारा (एतस्य) इस आत्मा के (घातिकर्मप्रणाशतः) घातिया कर्मों के नाश हो जाने से (आत्मनः) आत्मा के (विश्ववस्तुवित्) सकलपदार्थों का ज्ञायक (परमोपयोगः अस्तु) परमोपयोग हो जाता है॥९७-९८॥

विशेषार्थ- वितर्क यानी आत्मा के द्धादशांगरूप श्रुतज्ञान का व्यापार या यों कहो कि विचार की एकाग्रता श्रेणिकाल में और ग्यारहवें गुणस्थान में भी आत्मा और राग को भिन्न-भिन्न करने के लिये प्रवृत्त होती है जिससे कि इस आत्मा के शेष-घाति-कर्मों का-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय का नाश होकर इस आत्मा का उपयोग शुद्धोपयोगपन को उलांघ कर परमोपयोग बन जाता हे। जो उपयोग पहले क्षायोपशमिक था, अतः जिधर लगाया जाता था उधर ही लगता था। और बात को न जान कर उसी को जानने लगता था। जब तक विषयों की तरफ झुका हुआ था तो विषयों को स्वीकार किये हुए रागद्धेष में फंस रहा था, परन्तु जब बाह्यविषयों की तरफ से हटकर रागद्धेषरहित होते हुए वही उपयोग एक अपनी आत्मा में ही तल्लीन हो लिया तो "यः आत्मवित् स सर्ववित्" इस कहावत को चरितार्थ करते हुए विश्व भर की सकल वस्तुओं को एक साथ जानने वाला बन जाता है। जैसे वायु के द्धारा कल्लोलान्वित पानी में कुछ दिखाई नहीं देता, मगर निर्वातस्तम्भित जल में तमाम आसमान की चीजें झलकने लगती हैं तथा जल की तली में होने वाली चीजें भी दिख जाती हैं अस्तु, इसके बाद क्या होता है, सो बताते हैं-

देहमतीतो भूत्वा चिदयं परमपारिणामिकभावमयः।
नीरसवल्कलतो विस्तृत इवैरण्डबीजवज्जगति लसतिवै॥९९॥

अन्वयार्थः- (अयं चिद् देहम् अतीतः भूत्वा) यह आत्मा देह से दूर होकर (पृथक् होकर) (परमपारिणामिकभावयः 'सञ्जायते') परमपारिणामिक भाव का धारक हो जाया करता है (नीरसवल्कलतः विस्तृतः इव एरण्डबीजवत् 'एरण्डबीजम् इव') सूखकर छिलके का आवरण फैला हुआ-खुला हुआ हो गया है ऐसे एरण्ड के बीज के समान (यह आत्मा शरीर रहित बन जाती है।) ॥९९॥

विशेषार्थ- उपर्युक्त प्रकार से चार घातिया कर्मों का नाश कर देने पर इस आत्मा को क्षायिकभाव की पूर्ण प्राप्ति हो लेती है, किन्तु नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु ये चार अघातिकर्म अवशिष्ट रहते हैं। उनका भी अनुपक्रमरूप से यथासमय नाश होने पर यशह आत्मा शरीररहित हो जाता है, जेसे अरण्ड बीज के ऊपर होने वाला छिलके का आवरण सूख कर खुल जाता है तो वह खालिस बीज बन जाता है, वैसे ही यह आत्मा कार्मण शरीर के पूर्णरीत्या दूर हो जाने पर परमपारिणामिकभाव का धारक स्पष्ट सच्चिदानन्द हो जाया करता है, उसी का नाम सिद्ध या मुक्त होता है, वह लोक के शिखर पर जाकर विराजमान हो रहता है। उस समय इसके औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिकभाव इन चार प्रकार के भावों के साथ-साथ भव्यत्व का भी अभाव होकर सिर्फ शुद्धजीवत्वमात्र रह जाता है।

शंङ्का- क्षायिकभाव का भी अभाव हो जाता है, यह बात हमारी समझ में नहीं आयी बल्कि क्षायिकभाव होने पर तो उसका फिर अनन्तकाल तक भी अभाव नहीं होता ऐसा कहा गया है। अन्यथा तो फिर क्षायिकज्ञानादि का अभाव हो गया हो तो आत्मा में रह ही क्या जाता है।

उत्तर- क्षायिकभाव न रहे तो कुछ भी आत्मा में न हो, यह बात तो बहुत मोटी है संसारी जीव में क्षायिकभाव नहीं, मगर वहां औदयिकादिभाव यथासम्भव होते हैं। सभी सांसारिक जीवों में औदयिकभाव के साथ-साथ क्षायोपशमिक एवं अशुद्धपारिणामिक भाव होता है किसी भव्यजीव में उन तीनों के साथ औपशमिकभाव होता है तो किसी के क्षायिकभाव के साथ औदयिक आदि भाव तथा किसी के पांचों ही भाव होते हैं, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव जब उपशमश्रेणि में होता है तो वहां

उसके चारित्र तो औपशमिक होता है तथा सम्यक्त्वक्षायिक, ज्ञान-क्षायोपशमिक, मनुष्यपणा औदयिक और सञ्जीवनीशक्ति या भव्यत्व, जो है वह अशुद्धपारिणामिक भाव होता है। अरहन्तावस्था में ज्ञानादिक तो क्षायिकभाव, मनुष्यत्व और असिद्धत्व वगैरह औदयिक भाव एवं भव्यत्वभाव होता है। परन्तु जहां औदयिकभाव का सर्वथा अभाव हुआ वहां सिद्धदशा में औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और अशुद्धपारिणामिक भी एवं उन पांचों का अभाव होकर सिर्फ शुद्धजीवत्वमात्र रह जाता है। चेतनता का नाम-देखने-जानने रूप शक्ति का नाम जीवत्वभाव है वह शुद्ध और अशुद्ध दो तरह का होता है। उसमें से अशुद्धजीवत्व यह भव्यत्व और अभव्यत्व रूपसे दो भावों को लिये हुए रहता है। सो अभव्यत्व तो अनाद्यनन्त ही होता है, मगर भव्यत्वभाव उस जीव की संसार स्थिति मात्र रहता है। सिद्ध अवस्था में वह पलट कर शुद्धजीवत्व के रूप में आ जाता है। 'सिद्धत्वेन भवितुं योग्यो भव्यः' जो सिद्धरूप में परिणमन करने योग्य हो, उसे भव्य कहते हैं अब जो कि सिद्ध हो चुका है वह सिद्ध होने के योग्य कहां है जिससे कि उसे भव्य कहा जाये, वह तो सिद्ध होने योग्य था सो हो लिया। बस तो भव्यत्व का भी अभाव हो लिया। उसी के साथ चारों इतर भावों का भी अभाव हो गया।

हाँ, अरहन्त अवस्था में जो क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शन था, वह सिद्ध अवस्था में परमशुद्ध सम्यक्त्व, परमशुद्ध ज्ञान और परमशुद्ध दर्शन हो जाता है। इसी का नाम तो शुद्धजीवत्वभाव है, जिसकी सिद्धता के साथ में व्याप्ति है, जैसा कि अन्यत्र केवल सम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः सूत्र में स्पष्ट होता है। क्षायिक सम्यक्त्वादि को जहां अनन्त बतलाया है उसका मतलब तो इतना ही है कि जो दर्शनमोह के क्षय से सम्यक्त्व होता है, वह दूर होकर वापिस मिथ्यात्वदशा कभी भी नहीं होती। इसका मतलब यह कभी नहीं लिया जा सकता है कि जो जैसा सम्यक्त्व असिद्धदशा में है वैसा ही सिद्धदशा में भी होता है। इस बात को समझने के लिये जीवत्वगुण को ही ले लिया जावे। संसारावस्था में 'श्वासोच्छ्वासादिमज्जीवत्व' होता है, तो सिद्धावस्था में 'तद्रहितजीवत्व' हुआ करता है। जब जीवत्व में ही भेद हुआ तो सम्यक्त्वादिक जो उसके विशेष है उनमें भेद होना अवश्यंभावी है। जैसे किसी रत्न को डिबिया

में बन्द किया हुआ होता है तो उसके साथ उसका तेज भी उस डिबिया में बन्द रहता है, रत्न को खुला करने पर ही उसका उघोत खुला हो सकता है। अस्तु, उपर्युक्त सिद्ध परमात्मा का स्वरूप निर्देश करते हुए अब निम्नलिखित वृत्त में अन्तमंगलरूप से नमस्कार किया जाता है-

सम्यक्त्वस्य पृथुप्रतिमानं नित्यं निजदृग्ज्ञाननिधानम्।
अपि स्फुटीकृत विश्वविधानं नौमितमां कृतकृत्यानिदानम् ॥१००॥

अन्वयार्थः- (सम्यक्त्वस्य (=सत्यतायाः शुद्धतायाः वा) पृथु प्रतिमानं (महामूर्तिम्) सच्चाई की महान् मूर्ति को, (नित्यं) निरन्तर (निजदृग्ज्ञाननिधानं) अपने आपको देखने और जानने वाले को (अपि) भी (स्फुटीकृतविश्वविधानं (=स्पष्टीकृतसकलसृष्टिं) जिसने समस्त सृष्टि को, विश्व भर के विधान को ज्ञान द्वारा स्पष्ट किया है ।(यानी सर्वज्ञत्व पाया है) उनको (च) और (कृतकृत्यानिदानम्) कृतकरणीय हो चुके हैं उन्हें (नौमितमाम्) बारम्बार नमस्कार करता हूं।।१००॥

विशेषार्थ- जो ठीक सच्चाई की मूर्ति बने हुए हैं,निरन्तर अपने आपको तो देखने-जानने वाले हैं ही, फिर भी दुनिया भर की बातों को देखते-जानते हैं, किन्तु करने योग्य कार्यों को कर चुके हैं, ऐसे परमेष्ठी को हमारा बारम्बार नमस्कार हो मतलब यह कि स्वपर प्रकाशकपन आत्मा का असाधारणगुण है, वह इतर पुद्गलादि में न होकर हर आत्मा में सामान्यतया विद्यमान है। परन्तु संसारस्थ अवस्था में यह आत्मा अपने आपको न देखकर खुद को भुलाकर औरों की तरफ देखा करता है जिससे संकल्प-विकल्प में पड़कर इसका उपयोग क्रमिक बना हुआ रहता है। ज्ञानीपन की अवस्था में और तरफ से हटकर अपने आपको जानने लगता है तो फिर चञ्चलता चपलता से उत्रृण होकर स्थिर बन जाता है, एवं और सब चीजों को एक साथ देखते-जानते हुए भी स्पष्ट रूप से अपने आपको देखने-जानने वाला हो रहता है। जैसा कि पं० दौलतरामजी ने अपनी स्तुति के प्रारम्भिक दोहे में कहा है-

सकलज्ञेयज्ञायक तदपि निजानन्द रसलीन।

सो जिनेन्द्र जयवन्तनित अरिरजरहसविहीन॥

दर्पण में जिस प्रकार हर पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है फिर भी दर्पण अपने स्थान पर होता है और पदार्थ अपनी जगह पर। न तो पदार्थ ही दर्पण में घुस जाया करता है और न दर्पण ही अपनेपन को त्याग कर उस पदार्थरूप ही हो जाया करता है। वैसे ही परमात्मा के ज्ञान में हरेक पदार्थ झलकता है, फिर भी पदार्थ अपनी जगह अपने आपके रूप में होता है और आत्मा का ज्ञान आत्मा में। न तो ज्ञान का कोई एक भी अंश ज्ञेयरूप होता है और न ज्ञेय का कोई भी अंश ज्ञानरूप। जैसा कि-

तज्जयतु परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिकायत्र॥

पुरूषार्थसिद्ध्यु पाय के इस मंगलाचरण में लिखा है।

हाँ, कुछ लोगों की धारणा है कि ज्ञेयाकार होना ज्ञान का दोष है जो कि अपूर्णावस्था में हुआ करता है। पूर्ण ब्रह्म परमात्मदशा में तो वह निराकार हीहोता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों को जब एक साथ जानता है तो किस-किस के आकार होगा। परन्तु ऐसा कहने वालों को सोचना चाहिये कि पदार्थ को पदार्थ के रूप में जानना ही तो ज्ञान का पदार्थाकार में होना है, अगर सर्वज्ञ अवस्था में ज्ञान ज्ञेयाकार नहीं होता तो फिर इसका अर्थ यह हुआ कि वह ज्ञेय को जानता ही नहीं है।

शंका- ठीक तो है इसीलिये तो हमारे आचार्यों ने बतलाया है कि निश्चयनय से तो ज्ञान सिर्फ अपनी आत्मा को जानता है, पर पदार्थों को जानने वाला तो व्यवहार मात्र से होता है और व्यवहार का अर्थ झूंठा होता है।

उत्तर- भैयाजी, जो पर को नहीं जानता, वह अपने आपको भी नहीं जान सकता है, क्योंकि मैं चेतन हूं जड़ नहीं हूं इस प्रकार अपना विधान पर-प्रतिसेधपूर्वक ही हुआ करता है ज्ञान का स्वभाव जानना है, वह अपने आपको जानता है तो पर को भी जानता है अपने आपको आपके रूप में अभिन्नता से ज्ञातृतया वा ज्ञानतया

जानता है और पर पदार्थों को पर के रूप में अपने से भिन्न अर्थात् ज्ञेयरूप जानता है। भिन्न रूप जानने का नाम ही व्यवहार एवं अभिन्नरूप जानने का नाम ही निश्चय है। किन्तु जानना दोनों ही बातों में समान है, जो कि ज्ञान का धर्म है और वह सर्वज्ञ में पूर्णतया प्रस्फुट हो रहता है उसी की प्राप्ति के लिये यह सारा प्रयास है वह सर्वज्ञता वीतरागता से प्राप्त होती है वीतरागता काजनक सम्यक्त्व है, उसका विरोधी मिथ्यात्व अस्मदादि संसारी लोगों में विद्यमान है उसे दूर करके सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिये। इस प्रकार उपसंहार करते हुए अब ग्रन्थ समाप्त किया जाता है-

आत्मीयं सुखमन्यजातमिति या वृत्तिः परत्रात्मन-,
स्तन्मिथ्यात्वमकप्रदं निगदितं मुन्चेददानीं जनः।
आत्मन्येव सुखं ममेत्यनुवदन्बाह्यान्निवृतौ यदा-,
त्मन्यात्मा विलगत्य हो विजयतां सम्यक्त्वमेतत्सदा॥१०१॥

अन्वयार्थः- (आत्मीयं सुखम् अन्यजातम्) आत्मसुख अन्य से उत्पन्न होता है [इति या परत्र (अन्यत्र) वृत्तिः] इस कारण जो पर में वृत्ति है (तत् आत्मनः मिथ्यात्वम्) वह आत्मा का मिथ्यात्व (उलटापना) है, (अकप्रदं) दुःखदायी (निगदितम्) कहा गया है। (इदानीं जनः मुञ्चेत्) उसे अब मनुष्य छोड़ दे। (मम आत्मनि एव सुखम्) मेरी आत्मा में ही सुख है (इति अनुवदन्) इस प्रकार समर्थन करता हुआ (बाह्यात् यदा निवृत्तः सन्) जब बाहरी पदार्थों से निवृत्त होता हुआ (आत्मा आत्मनि विलगति) आत्मा स्वयं में तल्लीन (यानी आत्ममात्र) हो जाता है। (एतत् सम्यक्त्वम्) ही सम्यक्त्व [सम्यक्पना] है। (अहो! सदा विजयताम्) [यह सम्यक्देवता] अहो! सदा जयवन्त रहो ॥१०१॥

विशेषार्थ- हरेक शरीरधारी सुख की खोज में है, वह चाहता है कि मुझे सुख प्राप्त हो, दुःख कभी न हो, मैं सदा सुखी बना रहूं, परन्तु कैसे बनूं यही भावना इसके मन में निरन्तर बनी रहतीहै, क्योंकि इसे यह पता नहीं है कि सुख तो मेरी आत्मा का अपना गुण है, वह मेरा मेरे पास है। यह तो समझता है कि सुख कहीं बाहरी चीजों में, खाने-पीने में और कोमल पलंग पर लेट लगाने में है। इसलिये इसका

लगाव उन्हीं के पीछे हो रहा है। जैसे हरिण अपनी नाभि की सुगन्ध को बाहर की सुगन्ध समझ उसे ढूंढने में इधर-उधर भटकता फिरता है, वैसे ही यह संसारी जीव भी बाह्य विषयों में सुख मान कर उनमें झम्पापात लेता है, उन्हीं के पीछे लगा रहता है। बस, यही इसकी भूल है, मिथयात्व है, उलटापन है जो कि इसे दुःख देने वाला है। अतः आत्महितैषी जीव को चाहिये कि अपने इस मिथ्यात्व को दूर करे। मिथ्यात्व दूर हो जाना ही सम्यक्त्व है जो कि सुख देनेवाला है, आनन्दस्वरूप है। सो जब यह जीवात्मा अपनी उस चिरन्तन भूल को सुधार कर ऐसा मानने लग जाता है कि सुख तो मेरी आत्मा का ही सहज स्वभाव हे, वह आत्मा को छोड़कर अन्यत्र कहां हो सकता है तो फिर व्यर्थ की इन बाहरी बातों से दूरहोता हुआ स्पष्टरूप से आत्मतल्लीन यानी अपने आप में आत्ममात्र हो रहता है, उसी का नाम वास्तविक सम्यक्त्व है। मतलब यह कि बिगड़ी हुई हालत का नाम मिथ्यात्त्व और सुधरी हुई सहज स्वाभाविक शुद्धावस्था का नाम सम्यक्त्व है, सो यह सम्यक्त्वदेवता सदा जयवन्त रहो। अब अन्त में अपनी मनोभावना क्या है-सो प्रकट करते हैं-

भूयाज्जिनशासनं प्रभावि राष्ट्रे येन जनस्य विचारः।
मन्जुतमाचारेण च वाचि ललित्वेन समस्तु संयुतः ॥१०२॥

अन्वयार्थः- [जिनशासनं राष्ट्रे प्रभावि भूयात्, येन जनस्य विचारः मञ्जुतमाचारेण (= मञ्जुतमेन आचरणेन) च वाचि ललित्वेन (= मनोहरत्वेन) संयुतःसमस्तु।] जिनशासन राष्ट्र में प्रभावी हो, जिससे मनुष्यों के विचार सुन्दर आचरण सहितहों तथा वाणी में मनोहारिता व कोमलता आवे॥१०२॥

विशेषार्थ- देश भर में श्री जिन भगवान् का शासन फैले; सब लोग उसके मानने वाले बनें ताकि हरेक आदमी का विचार सदाचार सहित होते हुए भले व्यवहारयुक्तहो, यही मेरी सद्भावना है।

सहसूद्वितयात् सूर्य-संख्यांके विक्रमाब्दके।
भव्यजीव प्रबोधाय बोधाय च निजात्मनः ॥१०३॥

वर्षायोगे हिसारस्य श्रीसमाजानुरोधतः।
भूरामलेन रचितः सम्यक्त्व-सारदीपकः ॥१०४॥

अन्वयार्थः- (विक्रमाब्दके) विक्रमसंवत् [सहस्रद्वितयात् (=सहस्रद्वयात्)] दो हजार [सूर्यसंख्यांके (=द्वादशसंख्यांके)] बारह में (भव्यजीवप्रबोधाय) भव्य जीवों को बोध देने के लिये (च निजात्मनः बोधाय) और स्वयं को भी बोध देने के लिये (वर्षायोगे) चातुर्मास के काल में (हिसारस्य श्रीसमाजअनुरोधतः) हिसार नगर की श्री दिगम्बर जैन समाज के अनुराध के कारण से (भूरामलेन) भूरामल के द्वारा (सम्यक्त्वसारदीपकः रचितः) (यह) सम्यक्त्वसारशतक रचा गया ॥१०३-१०४॥

यह "सम्यक्त्वसारशतक या दीपक" नाम का ग्रन्थ श्री वीर विक्रमादित्य संवत् २०१२ में चातुर्मास के समय में श्री दिगम्बर जैन समाज हिसार की प्रेरणा से सभी भव्य जीवों के कल्याण के लिये एवं अपने आपके उपकार के लिये भी भूरामल (अनन्तर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज) ने बनाया है।